प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला– 50

जैन ज्ञानमीमांसा

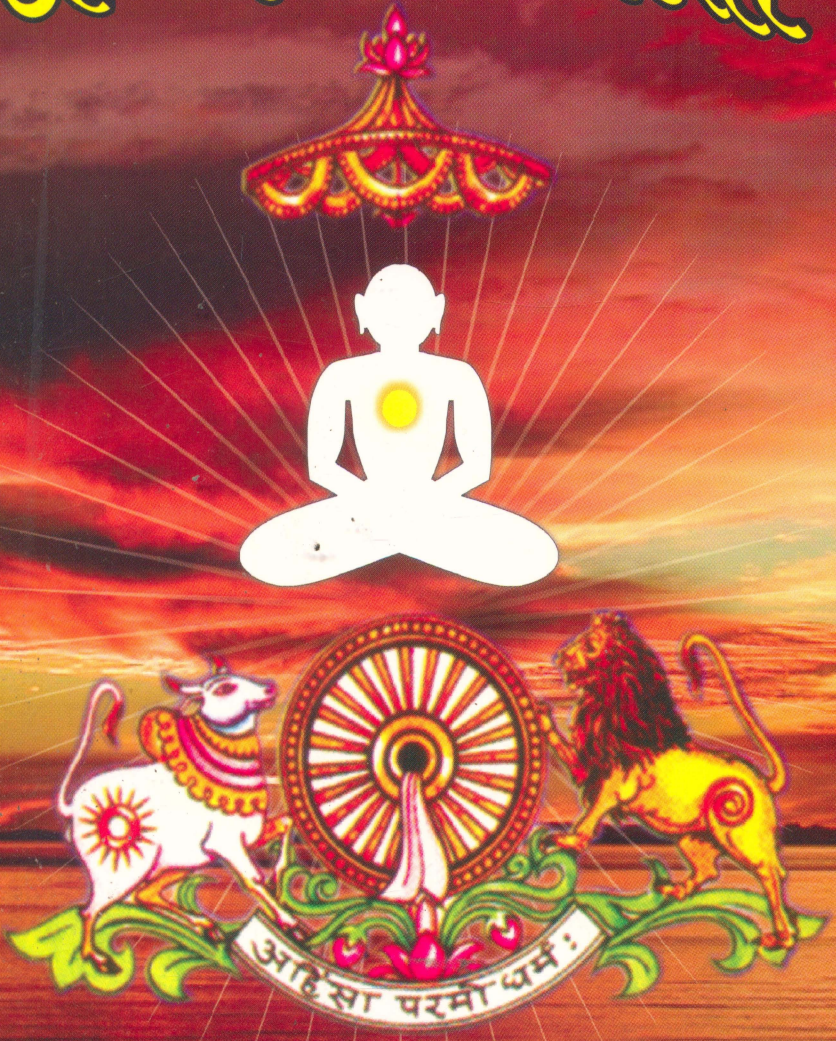

डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

समर्पण

प. पू. मालव सिंहनी
श्री वल्लभकुँवरजी म.सा.

प. पू. सेवामूर्ति
श्री पानकुँवरजी म.सा.

प. पू. सुप्रसिद्ध व्याख्यात्री
श्री हेमप्रभाश्रीजी म.सा.

प.पू.अध्यात्म रसिका
श्री मणिप्रभाश्रीजी म.सा.

ISBN-No.978-81-910801-8-6 (3)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 50

जैन ज्ञानमीमांसा

- लेखक -
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक - प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)

प्राच्य विद्यापीठ ग्रन्थमाला क्रमांक – 50

जैन ज्ञानमीमांसा

लेखक :
डॉ. प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक -
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड शाजापुर (म.प्र.)
फोन न. 07364-222218
email – sagarmal.jain@gmail.com

प्रकाशन वर्ष 2014-15

कापीराइट - लेखक
मूल्य - रूपये 200/-

मुद्रक
आकृति ऑफसेट
5, नई पेठ, छत्री चौक के पास
उज्जैन (म.प्र.) फोनः 0734-2561720

प्रकाशकीय

डॉ. सागरमल जैन विद्या के अधिकृत विद्वान हैं। उन्होंने हमारे आग्रह पर "जैन ज्ञान मीमांसा" पर अत्याधिक परिश्रम पूर्वक यह ग्रन्थ तैयार किया है। अब वे अपने जीवन के 83 वें वर्ष में चल रहे हैं, फिर भी जन सामान्य के उपयोग के लिए उनके द्वारा रचित यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ की भाषा प्रवाह युक्त, सरल एवं सुबोध है। हमें आशा है कि जैन जगत इस कृति का अध्ययन कर जैन विद्या के क्षेत्र में अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेगा।

नरेन्द्र जैन
सचिव
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

स्वकथ्य

जैन ज्ञान मीमांसा पर वैसे तो आज तक अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई है; फिर भी युगीन परिस्थितियों तुलनात्मक ऐतिहासिक गवेषणा को दृष्टि में रखकर इस कृति का प्रणयन किया गया है।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है। सभी कुछ पं. दलसुखभई आदि गुरुजनों का दिया हुआ है। इसमें मैं अपनी मौलिकता का क्या करूँ? फिर इस ग्रन्थ में मैंने विभिन्न अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैनदर्शन के अन्य ग्रन्थों में प्रायः इस दृष्टि का उतनी गम्भीरता से निर्वाह नहीं हुआ है यही इस कृति की विशेषता है।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चिद् गुरुदेव मे नहि।
यद त्रासोष्ठवं किञ्चित् तन्ममैव ते नहि॥

— सागरमल जैन

विभाग– 3
जैन ज्ञानमीमांसा

जैन दर्शन में पंचज्ञानवाद

जैन दर्शन में ज्ञान के दो रूप माने गये – 1. यथार्थज्ञान (सम्यक्ज्ञान) और 2. मिथ्याज्ञान। सामान्यतया, वस्तुएँ या तथ्य जैसे हैं, वैसे जानना यथार्थज्ञान या सम्यक्ज्ञान है और वस्तु या तथ्य को यथार्थ स्वरूप में न जानकर उससे भिन्न या इतर रूप से जानना मिथ्याज्ञान है। पुनः, जैन–दर्शन के अनुसार हमारी यथार्थ अनुभूति भी दो प्रकार की होती है – 1. वस्तु जैसी है, वैसी ही अनुभव करना और 2. वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वैसी अनुभूति करना। यद्यपि ये दोनों ज्ञान अपेक्षा–भेद से सत्य हैं, किन्तु वे दोनों अपनी पृथक्–पृथक् अनुभूति के कारण अपेक्षा भेद से ही सत्य हैं, फिर भी आंशिक सत्य ही हैं, सम्पूर्ण सत्य नहीं हैं। जैन–दर्शन में वस्तु–स्वरूप की यथार्थ अनुभूति को निश्चय सत्य कहा गया है, जबकि प्रतीतिगम्य सत्य को मात्र व्यवहार सत्य कहा गया है। यथार्थ अनुभूति को निश्चय सत्य और प्रतीतीगत अनुभूति को व्यवहार सत्य कहा गया है। निश्चय और व्यवहार की चर्चा हम अलग से करेंगे। यहाँ तो मात्र इन दोनों पक्षों का दिग्दर्शन करा रहे हैं। दूसरे, जैन दर्शन सत्य ज्ञान या अनुभूति को ही प्रमाणरूप नहीं मानता है। चाहे व्यावहारिक रूप से उन्हें सत्य कहा जाये, किन्तु वस्तुतः तो वे सम्यक् या सत्य नहीं हैं। इस हेतु जैनों ने उस ज्ञान को ही सम्यक्ज्ञान कहा है, जो जिया जाता है। मान लें कि एक व्यक्ति यथार्थ रूप से यह जानता है कि शराब पीने से कौन–कौनसी हानियाँ होती हैं, फिर भी यदि वह शराब पीता है, तो जैनदृष्टि से उसे ज्ञानी नहीं माना जाएगा। यही कारण है कि जैन–दर्शन में ज्ञान से तात्पर्य वहीं ज्ञान है, जो आचरण में उतारा जाता है, अन्य ज्ञान तो मात्र जानकारी या सूचनाएँ हैं, इसलिए कहा गया है कि –

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरूज्झदि।

जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।
जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, जिससे चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा की विशुद्धि होती है, अथवा जिससे जीव राग–द्वेष से विमुख होता है, श्रेयस् में अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव प्रकट होता (बढ़ता) है, उसी को जिनशासन में सम्यक् ज्ञान कहा गया है। जैन–दर्शन के अनुसार, ज्ञान केवल रचनात्मक जानकारी नहीं है। मिथ्यादृष्टि को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होते हैं, किन्तु जैन–दर्शन उन्हें अज्ञान ही कहता है। जो ज्ञान सम्यक् प्रकार से जिया नहीं जाता है, उसे जैन–दर्शन अज्ञान कहता है। मिथ्यादृष्टि के उपरोक्त तीनों ज्ञान भी अज्ञान ही हैं, अज्ञान भी तीन प्रकार का है– 1. संशय, 2. विपर्यय (विपरीत ज्ञान) 3. अनध्यवसाय। जो अज्ञान को नष्ट करे, वही ज्ञान है। अत; संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को जो समाप्त करता है, वही ज्ञान है।

1. ज्ञान प्राप्ति की दो विधाएँ

ज्ञान–प्राप्ति के दो साधन हैं – 1. अनुभूति और 2. बुद्धि। ज्ञान के क्षेत्र में हमारा अनुभव और हमारा बौद्धिक–चिन्तन सत् के कम–से–कम दो पक्ष तो उपस्थित कर ही देता है। एक, वह जो दिखाई पड़ता है और दूसरा, वह जो इस दिखाई पड़ने वाले के मूल में है– एक, वह जो प्रतीति (अनुभूति) है और दूसरा, वह जो उस प्रतीति का आधार है। बुद्धि कभी भी इस बात से सन्तुष्ट नहीं होती कि जो कुछ प्रतीति है, वह उसी रूप में सत्य है, वरन् वह स्वयं उस प्रतीति के पीछे झाँकना चाहती है, वह सत् के इन्द्रियगम्य स्थूल स्वरूप से सन्तुष्ट न होकर उसके सूक्ष्म और मूल स्वरूप तक जाना चाहती है। दृश्य से सन्तुष्ट न होकर उसकी तह तक प्रवेश करना मानवीय–बुद्धि की नैसर्गिक प्रकृति है और जब अपने इस प्रयास में वस्तुतत्त्व के प्रतीत होने वाले स्वरूप और उस प्रतीति के मूल में निहित आत्म–निर्दिष्ट या बुद्धि–निर्दिष्ट स्वरूप में अन्तर पाती है, तो वह स्वतः प्रसूत इस दुविधा में पड़ जाती है कि इनमें से यथार्थ कौन है –

प्रतीति का विषय, या तत्त्व का बुद्धि–निर्दिष्ट स्वरूप ?

चार्वाक–दार्शनिकों, भौतिकवादी–वैज्ञानिकों एवं अनुभववादी– दार्शनिकों ने वस्तुतत्त्व या सत् के इन्द्रियप्रदत्त ज्ञान को ही यथार्थ समझा और बुद्धिप्रदत्त उस ज्ञान को, जो इन्द्रियानुभूति का विषय नहीं हो सकता था, अयथार्थ कहा। दूसरी ओर, कुछ बुद्धिवादी तथा अध्यात्मवादी–दार्शनिकों ने उस इन्द्रियगम्य ज्ञान को अयथार्थ कहा, जो बौद्धिक–तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता था, लेकिन ये दोनों एकांगी दृष्टिकोण समस्या का सही समाधान प्रस्तुत नहीं करते थे। यही कारण था कि प्रबुद्ध दार्शनिकों को अपनी व्याख्याओं के लिए सत् के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का अवलम्बन लेना पड़ा। जिन दार्शनिकों ने सत् की व्याख्या के सन्दर्भ में दृष्टिकोणों का अवलम्बन लेने से इनकार किया, वे एकांगी रह गए और उन्हें इन्द्रियजन्य संवेदनात्मक ज्ञान और तार्किक चिन्तनात्मक ज्ञान में से किसी एक को अयथार्थ मानकर उसका परित्याग करना पड़ा। सम्भवतः, इस दार्शनिक–समस्या के निराकरण एवं सत् के सन्दर्भ में सर्वांग दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास जैन और बौद्ध–आगमों में परिलक्षित होता है। जैन–विचारधारा के अनुसार, न तो इन्द्रियानुभूति ही असत्य है और न बुद्धिप्रदत्त ज्ञान ही। एक में सत् का वह ज्ञान है, जिस रूप में हमारी इन्द्रियाँ उसे ग्रहण कर पाती हैं। दूसरे में सत् का वह ज्ञान है, जिस रूप में वह है, अथवा बुद्धि उसके मौलिक स्वरूप के विषय में जो ज्ञान हमें प्रदान करती है। जैन–आगमों के अनुसार, पहली को व्यवहारनय कहते हैं और दूसरी को निश्चयनय। व्यवहारदृष्टि स्थूलतत्त्वग्राही है, जो यह बताती है कि तत्त्व या सत्ता को जनसाधारण किस रूप में समझता है। निश्चयदृष्टि सूक्ष्मतत्त्वग्राही है, जो सत्ता के बुद्धिप्रदत्त वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराती है, जैसे, पृथ्वी सपाट एवं स्थिर है – यह व्यवहारदृष्टि है, क्योंकि हमारा लोक – व्यवहार ऐसा ही मानकर चलता है और पृथ्वी गोल एवं गतिशील है– यह निश्चयदृष्टि है, अर्थात् वह उसका वास्तविक स्वरूप है। दोनों में से किसी को भी अयथार्थ तो कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि एक इन्द्रियप्रतीति के रूप में सत्य है और दूसरा बुद्धिनिष्पन्न सत्य है। सत् के विषय में ये दो दृष्टियाँ हैं, दोनों ही

अपने–अपने क्षेत्र में सत्य हैं, यद्यपि दोनों में से कोई भी अकेले स्वतन्त्र रूप में सत् का पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं करती है। वस्तुस्वरूप की अनुभूति और अभिव्यक्ति– दोनों ही सापेक्ष हैं। एक बुद्धि और इन्द्रिय–सापेक्ष है, तो दूसरी भाषा–सापेक्ष है, अतः नय या दृष्टि पर आधारित है। नय–ज्ञान सीमित या सापेक्ष है। नयों एवं दृष्टियों से जाना गया और भाषा द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान भी सीमित या सापेक्ष सत्य ही होता है, जो ज्ञान जिस दृष्टि से जाना गया या जिन शब्दों के माध्यम से कहा गया, उसकी सत्यता उसी दृष्टिकोण पर आधारित होती है। संसार में कुछ भी निरपेक्ष सत्य नहीं है, सभी कथन सापेक्ष सत्य ही हैं।

2. जैन–दर्शन के अनुसार ज्ञान की विविध विधाएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, जैन–दार्शनिक सत् के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण लेकर चलते हैं – निश्चयनय और व्यवहारनय। जैन–दर्शन के अनुसार, 'सत् अपने–आप में एक पूर्णता है, अनन्तता है। इन्द्रियानुभूति, बुद्धि, भाषा और वाणी अपनी सीमा में अनन्त के एकांश का ही ग्रहण कर पाती हैं। वही एकांश का बोध नय (दृष्टिकोण) कहलाता है।' सत् के अनन्त पक्षों को जिन–जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है, वे सभी नय कहे जाते हैं। दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में जैन–दार्शनिकों का कहना है कि सत् की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जितने प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते हैं, उतने ही नय के भेद हैं। जैन–दार्शनिकों के अनुसार, जितने नय के भेद हो सकते हैं, उतने ही वाद या मतान्तर अथवा दृष्टिकोण होते हैं। वैसे तो जैन–दर्शन में नयों की संख्या अनन्त मानी गई है, लेकिन फिर भी मोटे तौर पर नयों के दो और सात भेद किए गए हैं।

एक अन्य अपेक्षा से, जैन–दर्शन में ज्ञान की तीन विधाएँ मानी गई हैं। जैन–दर्शन में ज्ञान पाँच प्रकार का है – (1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मनःपर्यवज्ञान और (5) केवलज्ञान। इनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं और शेष तीन अपरोक्षज्ञान हैं। अपरोक्षज्ञान में आत्मा को सत् का बिना किसी साधन के सीधा बोध होता है। इसे अपरोक्षानुभूति भी कहा जा सकता है। शेष दो, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रमशः अनुभूत्यात्मक–ज्ञान और बौद्धिक–ज्ञान से सम्बन्धित हैं। मतिज्ञान में ज्ञान

के साधन मन और इन्द्रियाँ हैं। इस आधार पर मतिज्ञान को अनुभूत्यात्मक–ज्ञान और श्रुतज्ञान को तार्किक या बौद्धिक–ज्ञान कहा जा सकता है। तत्त्वार्थसूत्र में वितर्क (बुद्धि) को श्रुत कहा है। वैसे, श्रुतज्ञान का एक अर्थ आगमिक–ज्ञान भी माना गया है, लेकिन आगम भी बौद्धिक–ज्ञान ही है, अतः श्रुतज्ञान बौद्धिक–ज्ञान ही है। इस प्रकार, जैन–विचारणा में ज्ञानप्राप्ति के साधनों के रूप में तीन विधाएँ उपस्थित हो जाती हैं – (1) अनुभूति (दर्शन), (2) ऐन्द्रिक एवं मानसिक–संवेदन, (3) बौद्धिक या आगमिक–ज्ञान या आत्मिक–ज्ञान। अनुभूति के भी दो रूप हैं– 1. ऐन्द्रिक या मानसिक–संवेदन 2.अपरोक्षानुभूति या आत्मिक–ज्ञान। इसे अन्तर्दृष्टि (Indtution) या प्रज्ञा भी कहा जा सकता है। इनमें अनुभूति या दर्शन सामान्य बोध और ज्ञान विशेष बोध है। यहाँ हम, प्रथम, जैनों के पंचज्ञानवाद की चर्चा करेंगे और फिर उनकी प्रमाण सम्बन्धी अवधारणा की चर्चा करेंगे।

जैन–ज्ञानमीमांसा

जैन–न्यायशास्त्र को मूलतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– 1. ज्ञान–मीमांसा और 2. प्रमाण–मीमांसा। ज्ञान–मीमांसा और प्रमाण–मीमांसा में जैन–ज्ञानमीमांसा प्रमाण–मीमांसा की अपेक्षा प्राचीन और उनकी अपनी मौलिक है, जबकि जैन–प्रमाणमीमांसा का विकास अन्य प्रमाण–मीमांसाओं के प्रकाश में ही हुआ है। जैन–ज्ञानमीमांसा की चर्चा मूलभूत जैन आगम–साहित्य में भी है, जबकि जैन–प्रमाणमीमांसा का प्रारम्भ सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार से ही देखा जाता है। आगमों में एक दो सन्दर्भों के अतिरिक्त प्रमाणशास्त्र की कोई चर्चा नहीं है। जैनों के प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में भी प्रमाणमीमांसा की कोई विस्तृत चर्चा नहीं है। जैन–प्रमाणमीमांसा पर कहीं बौद्धों का और कहीं नैयायिकों का प्रभाव देखा जाता है। प्रमाण–मीमांसा में जैनों ने अपने अनेकांत–सिद्धान्त का व्यापक प्रयोग किया है और इस क्षेत्र में रही हुई दो विरोधी धारणाओं को अनेकांतदृष्टि से समन्वित करने का प्रयास किया है।

जैन–ज्ञानमीमांसा के उल्लेख प्राकृत आगम–साहित्य में विस्तार से मिलते हैं। नन्दीसूत्र तो पूर्णतः जैन–ज्ञानमीमांसा का ही ग्रन्थ है, किन्तु इस परवर्ती आगम–ग्रन्थ की अपेक्षा भी प्राचीन स्तर के भगवतीसूत्र और

प्रज्ञापनासूत्र में भी पंचज्ञानों की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र भी पंच ज्ञानों की चर्चा प्रमाण–चर्चा की अपेक्षा विस्तार से करता है, जबकि प्रमाणचर्चा में पांचों ज्ञानों को प्रमाण कहकर अपनी बात को समाप्त कर देता है। यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि ज्ञान या प्रमाण क्या है ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि जो बोध (आत्म–संवेदन) संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) और अनध्यवसाय रूप हो और आत्मसजगता से रहित हो, वह अज्ञान है और अप्रमाण भी है। इसके विपरीत जो बोध है, वही ज्ञान है, इसे ही अभिनिबोधिक–ज्ञान भी कहते हैं।

पंचज्ञानवाद

जैन–परम्परा में ज्ञान पांच माने गये हैं– 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनःपर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान। इन पाँच ज्ञानों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान – ये तीन ज्ञान मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों की अपेक्षा से अज्ञानरूप भी माने गये हैं। जैन–कर्मसिद्धान्त में आत्मा के ज्ञानोपयोग को भी आठ प्रकार का माना गया है – 1. मति–ज्ञान, 2. मति–अज्ञान, 3. श्रुत–ज्ञान, 4. श्रुत–अज्ञान, 5. अवधिज्ञान, 6. विभंगज्ञान, 7. मनःपर्यवज्ञान और 8. केवलज्ञान। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान अज्ञानरूप नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे साक्षात् ज्ञान हैं। अवधिज्ञान भी यद्यपि साक्षात् ज्ञान है, फिर भी विकृत आत्मा अर्थात् विभावदशायुक्त नारकी जीवों या तिर्यञ्च आत्मा में इसकी सम्भावना होने से वह अज्ञानरूप भी हो सकता है। प्रथमतया, मनःपर्यव केवल सम्यक्दृष्टि अप्रमत्त मुनियों को होता है, वे मिथ्यात्व से युक्त नहीं होते हैं, अतः मनःपर्यवज्ञान विकृत या अज्ञानरूप नहीं होता है। दूसरे, यदि मनःपर्यवज्ञान पर स्व–चेतना की अपेक्षा से विचार करें, तो मन की पर्यायें तो चेतना में यथावत् ही अनुभूत होती हैं, अतः वे अज्ञानरूप नहीं हो सकती हैं। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान भी मन और इन्द्रियों के आश्रित नहीं हैं, अतः वे भी विकृत नहीं होते हैं।

(1) मतिज्ञान

मन और इंद्रियों के माध्यम से वस्तु का जो विशेष–ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। प्रथमतया, इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यार्थों का जो

सामान्य अवबौध होता है, उसे 'दर्शन' (ऐन्द्रिकसंवेदन) कहते हैं, वह बोध सामान्य रूप होता है। उस बोध में मन का योगदान होने पर वस्तु का उसकी विशेषताओं सहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है। मतिज्ञान की इस प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं, जिन्हें क्रमशः– 1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय (अपाय) और 4. धारणा कहा जाता है। प्रथम, इन्द्रिय का अपने विषय से सम्पर्क होता है, किन्तु उस समय जो अस्पष्ट अवबोध होता है, उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं, जैसे– गहरी निद्रा में किसी के द्वारा एक–दो बार पुकारे जाने पर श्रवणेन्द्रिय का अपने विषय 'शब्द' से सम्पर्क तो होता है, किन्तु उसका स्पष्ट अवबोध नहीं होता है। उसके पश्चात्, जब चेतना में यह बोध होता है कि कोई मुझे पुकार रहा है, तब उसे अर्थावग्रह कहते हैं। उसके पश्चात्, जब चेतना उस बोध को विशेष रूप से जानने में प्रवृत्त होती है, तो उस प्रक्रिया को ईहा कहते हैं, जैसे– यह किसकी आवाज है ? फिर भी ईहा संशय की अवस्था नहीं है, यह बोध की निर्णयाभिमुख अवस्था है, जैसे – ये किसी स्त्री के शब्द होना चाहिए, क्योंकि ये मधुर हैं। उसके पश्चात्, जो निर्णयात्मक निश्चित बोध होता है, उसे अवाय या अपाय कहा जाता है। जब यह निश्चित बोध स्मृति में सुरक्षित किया जाता है, तो उसे धारणा कहते हैं। इस प्रकार, मतिज्ञान की प्रक्रिया अवग्रह से प्रारम्भ होकर धारणा में पूर्ण होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र आदि की प्राचीन परम्परा में मतिज्ञान को परोक्ष ज्ञान ही माना गया था, क्योंकि इसमें आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों एवं मन के माध्यम से ही होता है। जो ज्ञान इंद्रियों या मन के द्वारा होता है, उसे परोक्षज्ञान ही कहा गया, क्योंकि यह पराश्रित है। इस प्रकार के ज्ञान में हम वस्तु के निजस्वरूप न जानकर इन्द्रिय या मन उसे जिस प्रकार दिखाते हैं, वैसा देखते हैं। दूसरे यह कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से पदार्थ या मनोविकल्पों का बोध करता है– ये सभी 'स्व' से भिन्न हैं, परापेक्षी हैं, अतः मतिज्ञान परोक्ष ज्ञान ही है, किन्तु लगभग पांचवीं शती से जैनाचार्यों ने इस ज्ञान को सांव्यावहारिक *प्रत्यक्ष कहा है, क्योकि अन्य दार्शनिक–परम्पराएं मन और इन्द्रियजन्य*

ज्ञान को भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही मान रही थीं।

मतिज्ञान के विषय

मतिज्ञान के विषय पदार्थ अथवा मनोविकल्प ही हैं। पदार्थ 'स्व' से भिन्न है, अतः 'पर' है। मनोविकल्प हमारे होकर भी हम उनके द्रष्टा होते हैं, अतः वे हमारे ज्ञान के विषय होते हैं। हम ज्ञाता होते हैं और वे ज्ञेय होते हैं, ज्ञेय होने से वे हमसे इतर या भिन्न होते हैं, अतः मतिज्ञान भेद–दृष्टिवाला होता है। मतिज्ञान यद्यपि सीमित ज्ञान है, फिर भी उसका विषय समस्त पदार्थ (द्रव्य), समस्त क्षेत्र, सभी काल और समस्त अवस्थाएँ (भाव) होते हैं। इस प्रकार, मतिज्ञान के विषयों के निम्न बारह प्रकार बनते हैं – 1. एक (अल्प), 2. अनेक (बहु), 3. एक प्रकार के (एकविध), 4. अनेक प्रकार के (अनेकविध), 5. शीघ्रग्राही (क्षिप्र), 6. कठिनता या देरी से ग्राही (अक्षिप्र), 7. निश्रित (अन्य के आश्रित), 8. अनिश्रित (अन्य किसी पर आश्रित नहीं), 9. असंदिग्ध (स्पष्ट), 10. संदिग्ध (अस्पष्ट), 11. ध्रुवग्राही (शाश्वत मूल्य वाले) और 12. अध्रुवग्राही (सामयिक मूल्य वाले)।

मतिज्ञान के भेद

अपने विषय की अपेक्षा से यह मतिज्ञान एक वस्तु का, अनेक वस्तुओं का, एक प्रकार की वस्तुओं का, अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं का हो सकता है। इसी प्रकार, ज्ञान के स्वरूप की अपेक्षा से शीघ्रग्राही, संकेत से अर्थ का ग्राही, साक्षात् अर्थ का ग्राही, संदिग्ध, असंदिग्ध तथा स्थायी या अस्थायी–रूप होता है। इस प्रकार, मतिज्ञान के उपर्युक्त बारह भेद भी होते हैं। अवग्रह के मूलतः दो भेद हैं – व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जनावग्रह अव्यक्त अनुभूति है, यह निम्नानुसार चार प्रकार का होता है – 1. घ्राणज, 2. श्रोत्रज, 3. रसनज, 4. स्पर्शज। चक्षु और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है, इनसे सीधा अर्थबोध या अर्थावग्रह होता है। चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों, अर्थात् श्रौतेन्द्रिय (कान), घ्राणेन्द्रिय (नासिका), रसनेन्द्रिय (जीभ) और स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) से होने के कारण यह चार प्रकार का है, जबकि अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों और मन से

होने के कारण छः प्रकार का होता है। व्यञ्जनावग्रह के चार एवं अर्थावग्रह के छह– इस प्रकार अवग्रह के दस, ईहा के छह, अवाय के छह, धारणा के छह, कुल 28 भेद होते हैं। इनका उपर्युक्त 12 प्रकारों से गुणा करने पर मतिज्ञान के कुल 336 भेद माने गये हैं।

एक अन्य अपेक्षा से मतिज्ञान के अन्य दो भेद भी हैं– 1. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान और 2. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान। भाषायी ज्ञान के आधार पर मतिज्ञान की जो अभिव्यक्ति होती है, वह श्रुत–निश्रित मतिज्ञान है, किन्तु अन्तःप्रज्ञा या विवेक– बुद्धि के द्वारा जो मतिज्ञान होता है, वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान है। श्रुतनिश्रित मतिज्ञान को बौद्धिक–ज्ञान भी कहा गया है, इसके चार भेद हैं– 1. औत्पातिक–बुद्धि (तात्कालिक–बुद्धि) 2. वैनयिकी–बुद्धि (गुरू–परम्परा से प्राप्त बुद्धि) 3. कर्मजा–बुद्धि (शिल्पज्ञान की शक्ति) और 4. परिणामिकी–बुद्धि (किसी कार्य को करते हुए देखकर उसे सीख जाने की शक्ति)। इन चारों को मिलाने पर मतिज्ञान के 336 + 4 = 340 कुल 340 भेद भी होते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सम्बन्ध

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक–दूसरे से अभिन्न हैं। जहाँ तक इन्द्रिय संवेदनाजन्य मतिज्ञान का प्रश्न है, वह ज्ञान श्रुतज्ञान का आधार बनता है। इन्द्रिय संवेदनाओं का अर्थबोध श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है, अतः ऐन्द्रिक– संवेदनाओं के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता। ऐन्द्रिक–संवेदनाओं से हम जो अर्थ का बोध करते हैं, वही श्रुतज्ञान कहा जाता है। अतः, तत्त्वार्थसूत्र का यह कथन सत्य है कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, किन्तु यह भी एकान्ततः सत्य नहीं है। जिन प्राणियों को मन है, अर्थात् जिनमें मानसिक–स्तर पर संकल्प–विकल्प चलते हैं, वे सभी विकल्प शब्दों पर आधारित होने से मतिज्ञान के लिए भी श्रुतज्ञान आवश्यक होता है। क्योंकि बिना शाब्दिक–अर्थबोध के विचार या विकल्प संभव नहीं होते, इसलिए जैन–आचार्यों ने इस दृष्टि से मतिज्ञान के भी दो भेद किए हैं– 1. श्रुतनिश्रित मतिज्ञान और 2. अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान। मात्र ऐन्द्रिक–संवेदनों से जो बोध प्राप्त होता है, वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान है, जबकि चित्त में जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे विकल्प शब्दरूप होने से विकल्प या

विचाररूप मतिज्ञान श्रुतनिश्रितमतिज्ञान कहलाता है, क्योंकि विकल्प शब्दों के बिना नहीं बनते हैं। जैन–दार्शनिकों ने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का संबंध बताते हुए एंकागी दृष्टिकोण नही अपनाया है। एक ओर, वे यह मानते हैं कि ऐन्द्रिक–संवेदनों से जो ज्ञान होता है, उसमें मतिज्ञान प्रथम और श्रुतज्ञान बाद में होता है, जबकि इसके विपरीत, मनोविकल्पों का जो बोध होता है, उसमें श्रुतज्ञान प्रथम और मतिज्ञान बाद में होता है। यही कारण है कि जैन–आचार्यों ने यह माना है कि जहाँ मतिज्ञान है, वहाँ श्रुतज्ञान है और जहाँ श्रुतज्ञान है, वहाँ मतिज्ञान है।

मतिज्ञान का एक पर्यायवाची शब्द 'अभिनिबोध' या आभिनिबोधिकज्ञान भी है, इसका अर्थ होता है – एक समग्र और सम्बन्धित अर्थबोध। अतः, श्रुतज्ञान से भिन्न मतिज्ञान और मतिज्ञान से भिन्न श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। जहाँ भी वस्तु के स्वरूप के संबंध में, यह ऐसी है और ऐसी नहीं है– इस प्रकार का जो बोध होता है, उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक–दूसरे में पूरी तरह समाहित होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को हम वैचारिक–स्तर पर अलग–अलग कर सकते हैं, लेकिन सत्ता के स्तर पर तो वे अभिन्न ही हैं, अर्थात् (They are distinguisable but not spreatable)। वे पृथक्–पृथक् रूप से जाने जा सकते हैं, किन्तु पृथक् किये नहीं जा सकते हैं। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने यह माना कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सदैव साथ–साथ रहते हैं और एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों में साथ–साथ पाये जाते हैं।

श्रुतज्ञान का स्वरूप

श्रुतज्ञान शाब्दिक–ज्ञान है। शब्दों के माध्यम से हमें जो अर्थबोध होता है, उसको सामान्यतया श्रुतज्ञान कहते हैं। कुछ लोगों ने इस आधार पर इसे भाषायीज्ञान भी कहा है। वस्तुतः, ऐन्द्रिक एवं मानसिक–संवेदनों से जो भी अर्थबोध हम ग्रहण करते हैं, वह चाहे शब्द या अक्षर–रूप हो या न हो, उसे श्रुतज्ञान ही कहा जाता है, इसलिए अनुभूतिजन्य संकेतों से जो अर्थबोध होता है, वह भी श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है, अतः श्रुतज्ञान केवल भाषायी ज्ञान नही है। शब्द के उच्चारण या लेखन के बिना भी संकेतों के आधार पर जो अर्थबोध किया जाता है, वह भी श्रुतज्ञान के

अन्तर्गत आता है। सामान्यतया, श्रुतज्ञान का अर्थ सुनकर– ऐसा होता है और सुनने की यह प्रक्रिया शब्दों के उच्चारणपूर्वक होती है और इसलिए कुछ लोगों ने यह मान लिया कि श्रुतज्ञान शाब्दिक या भाषायी–ज्ञान है, किन्तु जैन–आगमों में एकेन्द्रिय जीवों में भी श्रुतज्ञान की सम्भावना मानी है, उसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय जीव भी स्पर्श–इन्द्रिय के माध्यम से जो संकेत उन्हें मिलते हैं, उनसे अर्थबोध ग्रहण कर लेते हैं। अतः, श्रुतज्ञान में शब्द या भाषा का उपयोग होता है, फिर भी वह आवश्यक नहीं होता। श्रुतज्ञान में मात्र इतना आवश्यक है कि इन्द्रियों के माध्यम से हमें जो संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं, उनके अर्थ का बोध हमें हो, उदाहरण के रूप में स्काउट्स झण्डी या सीटी आदि के माध्यम से अर्थबोध प्राप्त करते हैं। यद्यपि सीटी ध्वनि–रूप है, शब्दरूप नहीं है, इसलिए जैन आचार्यों ने भाषा को भी दो प्रकार का माना है, शब्द या ध्वनि–रूप भाषा और संकेत–ग्रहणरूप भाषा। व्यवहार में हम शब्दों का प्रयोग करते हैं और उन शब्दों से अर्थबोध करते हैं, किन्तु इन्द्रिय–संकेतों में, चाहे वे शब्दरूप हो या ना हों, उनसे अर्थबोध करने की जो सामर्थ्य रही है, वही तो श्रुतज्ञान है। अतः, श्रुतज्ञान शब्दरूप भी होता है और अर्थरूप भी होता है।

श्रुतज्ञान का एक सामान्य अर्थ होता है– जो ज्ञान सुनकर प्राप्त होता है, वह ज्ञान, किन्तु मतिज्ञान में भी श्रोतेन्द्रिय से सुनकर ज्ञान प्राप्त होता है, फिर भी दोनों में अन्तर है। सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह श्रुतज्ञान है, जबकि मात्र ध्वनितरंगों का श्रवणमात्र मतिज्ञान है, जैसे– किसी तमिल भाषा के अज्ञानी व्यक्ति के सम्मुख कोई तमिल भाषा में गाना गाए, तो वह ध्वनियों को सुनता तो है, वे ध्वनियाँ उसे अनुकूल या प्रतिकूल भी लगती हैं; किन्तु यह ध्वनिसंवेदन मात्र मतिज्ञान है, परन्तु जब कोई तमिल भाषा का ज्ञाता उन ध्वनितरंगों का संवेदन कर अर्थात् उन्हें सुनकर जो अर्थबोध करता है, अर्थात् क्या कहा जा रहा है और उसका अर्थ क्या है– यह जानता है, तो वह अर्थबोध श्रुतज्ञान होता है। श्रुतज्ञान मात्र ध्वनि–संवेदनरूप न होकर अर्थबोध–रूप होता है, अतः श्रुतज्ञान भाषिक–ज्ञान है और भाषिक–ज्ञान के रूप में यह अर्थसंकेत–ग्रहण–रूप है, अतः अन्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत संवेदनों से भी जब अर्थबोध प्राप्त होता है, तो वे भी

श्रुतज्ञानरूप हो जाते हैं, जैसे– कोई व्यक्ति हमें हाथ के संकेत से प्रवेश–निषेध का संकेत देता है, तो वह अर्थबोध भी श्रुतज्ञान होता है, इसलिए श्रुत के दो भेद हैं – 1. अक्षर–श्रुत और 2. अनक्षर–श्रुत। श्रुतज्ञान भाषिक या शब्दध्वनि–रूप भी हो सकता है। शब्द–ध्वनि से रहित आकृति के संवेदनपूर्वक उससे होने वाले अर्थबोध–रूप भी। वह शब्दध्वनि–रूप भी होता है और शब्द–आकृति के चक्षु–संवेदन–रूप या अन्य संकेत–रूप भी होता है, जैसे– एकेन्द्रिय जीव मात्र शारीरिक–संवेदन से भी अर्थबोध करते हैं, अथवा पशु–पक्षी अनक्षर ध्वनि–संकेतों से अथवा शारीरिक–संवेदनों से भी अर्थबोध कर लेते हैं, जैसे– पक्षियों को तूफान, भूकम्प आदि का पूर्व से ही बोध हो जाता हैं। अतः, मेरी दृष्टि में पांचों इन्द्रियों एव मन द्वारा जो मात्र संवेदन–रूप है, वह मतिज्ञान है और जो अर्थरूप है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान में भाषा का वहीं तक स्थान है, जहाँ तक अर्थबोध या अर्थाभिव्यक्ति में सहायक है। श्रुतज्ञान का एक अर्थ शास्त्र–ज्ञान भी है। शास्त्र को श्रुति या आगम भी कहते हैं – यहाँ श्रुतज्ञान का सम्बन्ध भाषायीज्ञान या शास्त्रज्ञान भी होता है। प्राचीन परम्परा में श्रुतज्ञान का तात्पर्य आगमज्ञान या शास्त्रज्ञान भी था। नन्दीसूत्र में श्रुतज्ञान को आगमज्ञान या शास्त्रज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहा गया है।

श्रुतज्ञान के भेद

किसी भी शब्द का श्रवण करने पर वाच्य–वाचकभाव संबंध के आधार से अर्थ–बोध की जो उपलब्धि होती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है, किन्तु फिर भी इसके उत्पन्न होने में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता होती है, अतः इसे मन का विषय माना गया है, या श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की तरह परोक्ष है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, इसीलिए सूत्रकार ने मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया है। नन्दीसूत्र में श्रुत के चौदह भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इस आधार पर श्रुतज्ञान चौदह प्रकार का भी है, जैसे– 1. अक्षरश्रुत, 2. अनक्षरश्रुत, 3. संज्ञिश्रुत, 4. असंज्ञिश्रुत, 5. सम्यक्श्रुत, 6. मिथ्याश्रुत, 7. सादिकश्रुत, 8. अनादिकश्रुत, 9.सपर्यवसितश्रुत, 10. अपर्यवसितश्रुत, 11. गमिकश्रुत, 12. अगमिकश्रुत, 13. अंगप्रविष्टश्रुत,

14. अनंगप्रविष्टश्रुत। इसके अतिरिक्त, श्रुत के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य – ऐसे दो विभाग भी किये गये हैं। अंगप्रविष्ट के आचारांग आदि से लेकर दृष्टिवाद तक 12 भेद हैं, इसमें भी दृष्टिवाद के अन्तर्गत भी 14 पूर्वो एवं अनेक ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। अंगबाह्य ग्रन्थों के भी अनेक भेद हैं। नन्दीसूत्र में इसके दो भेद किये हैं– 1. आवश्यक और 2. आवश्यक–व्यतिरिक्त। पुनः, आवश्यक के सामायिक आदि छह भेद हैं। आवश्यक–व्यतिरिक्त के पुनः कालिक और उत्कालिक – ऐसे दो भेद हैं। *इसके कालिक के अन्तर्गत 31 एवं उत्कालिक के अन्तर्गत 29 ग्रन्थों का उल्लेख है। वर्तमान में अंगबाह्य में 12 उपांग 6 छेद 4 मूल 10 प्रकीर्णक* एवं 2 चूलिकासूत्र माने गयें हैं। दिगम्बर–परम्परा में अंगबाह्य में 14 ग्रन्थ माने गये हैं, जबकि स्थानकवासी एवं श्वेताम्बर–तेरापंथ 12 उपांग 4 छेद 4 मूल एवं 1 आवश्यकसूत्र एवं इनमें 11 अंगसूत्र मिलाकर कुल 32 आगम मानते हैं।

परम्परागत दृष्टि से श्रुतज्ञान आगमज्ञान है, किन्तु श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा का कथन इससे भिन्न है। उनके अनुसार, मतिज्ञान 'पर' वस्तु का ज्ञान या पदार्थ–ज्ञान है, क्योंकि वह इन्द्रियाधीन है, उनके विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि हैं। पुनः, मन की अपेक्षा से भी वह बौद्धिकज्ञान है, विचारजन्य है, अतः भेदरूप है, फिर भी मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान को इन्द्रिय या बुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वह शाश्वत सत्यों का बोध है। वे लिखते हैं– 'श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन, बुद्धि की अपेक्षा से रहित स्वतः होने वाला निज का ज्ञान है, अर्थात् स्व–स्वभाव का ज्ञान है'। श्रुतज्ञान स्वाध्यायरूप है और स्वाध्याय का एक अर्थ है– 'स्व' का अध्ययन या स्वानुभूति। यदि श्रुतज्ञान का अर्थ आगम या शास्त्रज्ञान लें, तो भी वह हेय, ज्ञेय या उपादेय का बोध है, इस प्रकार वह विवेक–ज्ञान है। विवेक अन्तःस्फूर्त्त है। वह उचित–अनुचित का सहज बोध है। निष्कर्ष यह कि मतिज्ञान पराधीन है, जबकि श्रुतज्ञान स्वाधीन है। इस प्रकार, आदरणीय लोढ़ाजी ने आगमिक– आधारों को मान्य करके भी श्रुतज्ञान की एक नवीन दृष्टि से व्याख्या की है।

अवधिज्ञान

जैन–दर्शन में पंच ज्ञानों में अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान – ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। अवधिज्ञान शब्द का शाब्दिक–अर्थ होता है – सीमित ज्ञान। सीमित ज्ञान होते हुए भी यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, क्योंकि इस ज्ञान में आत्मा मन एवं इन्द्रियों पर निर्भर नहीं रहता है, अतः इसे आत्मिक– प्रत्यक्ष अथवा अतीन्द्रिय–ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञान या सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा इसका विषय एवं क्षेत्र सीमित होने के कारण ही इसे अवधिज्ञान कहते हैं। षट्द्रव्यों में यह लोक में स्थित मात्र मूर्त्त पुद्गल–द्रव्य को जान पाता है। अवधिज्ञानी इन्द्रियों के माध्यम के बिना जगत् के भौतिक पदार्थों को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। अन्य परम्परा में इसे अतीन्द्रिय ज्ञान (Extra Sensory Perception) कहते हैं, किन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सभी अवधिज्ञानियों की ज्ञान–सामर्थ्य समान नहीं होती है, उनमें तरतमता होती है, कम–से–कम एक अंगुल के असंख्यातवें भाग को और अधिकतम लोकान्त तक के भौतिक द्रव्यों को जानने की क्षमता उसमें होती है। यह अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है – **1. भवप्रत्यय और 2. क्षायोपशमिक।**

तीर्थंकरों, देवों और नारकीय–जीवों को, जो अवधिज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। किसी प्रकार की साधना या चारित्रिक – पवित्रता के द्वारा मनुष्य या पंचेन्द्रिय समनस्क तिर्यंच जीवों अर्थात् पशुओं को जो अवधिज्ञान प्राप्त होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है। इसे क्षायोपशमिक इसलिए कहते हैं कि साधना के द्वारा पूर्व–बद्ध कर्मों के क्षय या उपशम से यह ज्ञान प्राप्त होता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के छह भेद हैं – 1. आनुगमिक अवधिज्ञान, जो जीव का अनुगमन करता है, अर्थात् जो अवधिज्ञान जीव को जिस क्षेत्र या स्थान पर उत्पन्न होता है, वहाँ से उठकर जाने पर भी समाप्त नहीं होता है, वह आनुगमिक अवधिज्ञान कहलाता है। 2. अनानुगमिक अवधिज्ञान – वह है, जो उस क्षेत्र या स्थान से उठकर जाने पर भी समाप्त हो जाता है। 3. वर्धमान, अर्थात् जो अवधिज्ञान क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होता है, वह

वर्धमान अवधिज्ञान है। 4. हीयमान, अर्थात् जो क्रमशः क्षीण होता रहता है, वह अवधिज्ञान हीयमान अवधिज्ञान है। 5. प्रतिपातिक, अर्थात् जो अवधिज्ञान एक बार प्राप्त होने पर कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है, प्रतिपातिक–अवधिज्ञान है और 6. अप्रतिपातिक अवधिज्ञान वह है, जो प्राप्त होने पर समाप्त नहीं होता है।

अवधिज्ञान का क्षेत्र एवं विषय

अवधिज्ञान का न्यूनतम क्षेत्र एक अंगुल का असंख्यातवाँ भाग और अधिकतम क्षेत्र सम्पूर्ण लोक होता है। उसमें लोक के बाहर अलोक के कुछ भाग को जानने की शक्ति तो होती है, फिर भी अलोक में उसका विषय 'रूपी द्रव्य' नहीं होता है, अतः वह लोक में स्थित रूपी द्रव्यों को ही जानता है।

दूसरे यह कि अवधिज्ञान केवल तीर्थंकर, देव और नारक – तीनों को जन्मना होता है। नारक और देवता सभी दिशाओं और विदिशाओं में देखते हैं, फिर भी उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र सीमित ही होता है। मात्र तीर्थंकर को, जब वे केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व बारहवें गुणस्थान में होते हैं, तब वे परमअवधि को प्राप्त करते हैं, किन्तु कोई भी देव, नारक और तिर्यञ्च परम अवधिज्ञान को प्राप्त नहीं करते हैं। मनुष्यों में केवल वे मनुष्य, जो तद्भव में मोक्षगामी हैं, वे भी केवलज्ञान और निर्वाण के पूर्व बारहवें गुणस्थान में परम अवधिज्ञान को प्राप्त करते हैं।

परम अवधिज्ञान

अवधिज्ञान के जिन भेदों की चर्चा की, उनमें उसके निम्न दो भेद भी समाहित हैं – 1. प्रतिपाती–अवधिज्ञान और 2. अप्रतिपाती–अवधिज्ञान। परम–अवधिज्ञान अप्रतिपाती अवधिज्ञान है– यह प्राप्त होने पर जाता नहीं है, किन्तु इसका समापन केवलज्ञान में होता है। जब आत्मा में ज्ञानावरणीय–कर्म का एक प्रदेश मात्र अवशिष्ट रह जाता है, तब यह परम अवधिज्ञान प्राप्त होता है। इसका विषय और क्षेत्र लोक के समस्त रूपी द्रव्य होते हैं। केवलज्ञान में और परम अवधिज्ञान में अन्तर यह है कि केवलज्ञानी लोक में स्थित सभी रूपों और अरूपी–द्रव्यों को जानता है, जबकि परम

अवधिज्ञानी केवल लोक को और उसमें स्थित सभी रूपी द्रव्यों को ही जानता है। परम अवधिज्ञान यद्यपि अप्रतिपाती है, फिर भी इसका समापन केवलज्ञान में हो जाता है। दूसरे, यह परम अवधिज्ञान की शक्ति लोकाकाश के बाहर जानने की है, किन्तु लोकाकाश के बाहर रूपी द्रव्य हैं ही नहीं, अतः वह व्यवहार में लोकाकाश तक ही जानता है। परम अवधिज्ञान की प्राप्ति मात्र बारहवें गुणस्थान में स्थित जीवों (आत्माओं) को ही होती है, अन्य किसी गुणस्थानवर्ती जीव को नहीं होती है।

मनःपर्यवज्ञान और उसका विषय

मनःपर्यवज्ञान के विषय को लेकर जैन–परम्परा में भी दो भिन्न मत प्रचलित रहे हैं। प्रथम मत के अनुसार मनःपर्यवज्ञान का विषय चिन्त्यमान् वस्तु है, अतः मनःपर्यवज्ञानी मन के ज्ञेय विषय या वस्तु के स्वरूप को जानता है। निर्युक्ति–साहित्य और तत्त्वार्थसूत्र इस मत के समर्थक हैं, यह वस्तुवादी प्राचीन मत है। दूसरे मत के अनुसार, मनःपर्यवज्ञान का विषय – चिन्तन में प्रवृत्त मनोद्रव्य की अवस्थाएँ अर्थात् मनोवृत्तियां हैं। इस दूसरे पक्ष का समर्थन विशेषावश्यकभाष्य में मिलता है। इन दोनों मतों में मूल अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम मत चिन्त्यमान् वस्तु को मनःपर्यवज्ञान का विषय मानता है, वहाँ दूसरे मत की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञान मनोवर्गणाओं अर्थात् पौद्गलिक–द्रव्य मन की अवस्थाओं को ही विषय मानता है, अतः उसका विषय मनोविज्ञान या मानसिक–अवस्था है। यह विज्ञानवादी मत है। जहाँ प्रथम मान्यता पर न्याय–वैशेषिक–दर्शन का प्रभाव है, यह मत वस्तुवादी (Realist) है, वहीं दूसरे मत पर विज्ञानवादी बौद्धों का प्रभाव है। यह मत चेतनावादी (Idealist) है। सत्य यही है कि मनःपर्यवज्ञान मनोद्रव्य की चिन्त्यमान् वस्तु को नहीं, किन्तु उसकी मानसिक–आकृति (Mentalimage) को जानता है। मनःपर्यवज्ञान का विषय पौद्गलिक–द्रव्यमन है, फिर भी चिन्त्यमान् मन में चिन्त्यपदार्थ की जो आकृतियाँ बनती हैं, मनःपर्यवज्ञान उन्हीं आकृतियों को, जो पौद्गलिक–मनोवर्गणाओं से बनती है, उनको जानता है, वह वस्तु को सीधे न जानकर वस्तु के मनोगत आकार को जानता है। उसका मनोआकृति का यह ज्ञान भी अपरोक्ष है, फिर भी उस आकृति की आधारभूत वस्तु का ज्ञान तो परोक्ष ही है। फिर

भी, इतना सत्य है कि मनःपर्यवज्ञान का विषय रूपी मूर्त्त–द्रव्य ही हैं, अमूर्त्त द्रव्य नहीं, क्योंकि द्रव्यमन में निर्मित ये आकृतियाँ भी द्रव्य मनोवर्गणाओं से ही बनती हैं।

मनःपर्यवज्ञान 'स्व' के मन की पर्यायों को जानता है या पर (दूसरों) के मन की पर्यायों को जानता है– यह प्रश्न भी विवादास्पद रहा है। जैन– ग्रन्थों में सामान्य रूप से यह कथन प्रचलित है कि मनःपर्यवज्ञानी न केवल अपने मन की पर्यायों (अवस्थाओं) को जानता है, अपितु दूसरों के मन की पर्यायों को भी जानता है। योगसूत्र (पतंजली) एवं मज्झिमनिकाय में परचित्त (दूसरों के चित्त) के ज्ञान की सम्भावना भी मानी गई है। इसी आधार पर जैन–परम्परा में भी मनःपर्यवज्ञान के द्वारा 'पर' चित्त–ज्ञान की अवधारणा पर बल दिया गया, किन्तु मेरी दृष्टि में यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान के लिए अप्रमत्तसंयत मुनि होने की जो शर्त लगाई गई है, वह शर्त आवश्यक इसलिए है कि अप्रमत्तसंयत मुनि ही अपनी मनोवृत्तियों को सम्यक् प्रकार से जान सकता है, प्रमत्तसंयत व्यक्ति भी नहीं। मनःपर्यवज्ञान के लिए अप्रमत्तता की शर्त यही सूचित करती है कि मनःपर्यवज्ञान स्वचित्त या अपने ही मन की पर्यायों का ज्ञान है। मनःपर्यवज्ञानी स्वचित्त का ज्ञाता होता है, अतः वह आत्म–सजग या अप्रमत्त होता है। दूसरे, मनःपर्यवज्ञान के लिए आत्मसजगता या अप्रमत्तता की स्थिति इसलिए भी आवश्यक मानी गई है, क्योंकि जो व्यक्ति मनो–विकल्पों का ज्ञाता–द्रष्टा होता है, वह उसी समय मनोविकल्पों का कर्त्ता नहीं होता है। मनःपर्यवज्ञान आत्मसजगता या स्व–बोध की अवस्था है, अतः उसमें 'पर' के विकल्पयुक्त चित्त जानने की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। चाहे एक बार परम्परागत मान्यता के अनुसार यह मान भी लें कि मनः पर्यवज्ञानी में परचित्त को जानने की शक्ति होती है, किन्तु उसमें परचित्त को जानने का प्रयत्न नहीं होता है, अतः मेरी दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान अपने मन की पर्यायों अर्थात् मानसिक–अवस्थाओं या चित्तवृत्तियों का ज्ञान है, उसका सम्बन्ध स्वचित्त से ही है। परम्परागत दृष्टि से उसे परचित्त का ज्ञान मानने पर तो उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। यदि वह परचित्त का ज्ञान है, तो उसका क्षेत्र ढाई द्वीप से बाहर भी माना जाना था, क्योंकि

पञ्चेन्द्रिय समनस्क (संज्ञी) जीव तो ढाई द्वीप से बाहर भी होते हैं, अतः मेरी दृष्टि में मनःपर्यवज्ञान स्वमन की पर्यायों अर्थात् मनोदशाओं का ज्ञान है। वह आत्मसजगता या अप्रमत्तता की अवस्था है। यह ज्ञाता–द्रष्टाभाव में आत्मरमणता की स्थिति है। अतः, जैन–दर्शन में यह माना गया है कि तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यवज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

मनःपर्यवज्ञान के भेद

मनःपर्यवज्ञान के दो भेद हैं – ऋजुमति और विपुलमति। यद्यपि अपने विषय आदि की अपेक्षा से मनःपर्यवज्ञान में भेद नहीं हैं, फिर भी चित्तवृत्ति की सरलता और व्यापकता की अपेक्षा से या अपने विषय की अपेक्षा से उसमें भेद हैं। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान चित्त की सरल वृत्तियों को जानता है या सरल मनोभावों को जानता है, संक्लिष्ट मनोभावों को नहीं। ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान की अपेक्षा विपुलमति का विषय अधिक व्यापक होता है और वह मन के संक्लिष्ट परिणामों को भी जानता है, अतः एक अपेक्षा से इन दोनों मनःपर्यवज्ञानों में चित्तवृत्ति की सरलता या विशुद्धि की अपेक्षा से अन्तर है। एक अन्य अपेक्षा से इन दोनों में ज्ञान की स्पष्टता की अपेक्षा भी अन्तर होता है।

केवलज्ञान

कर्म–सिद्धान्त की अपेक्षा से ज्ञान के दो प्रकार हैं – 1. क्षायोपशमिक और 2. क्षायिक। मतिश्रुत आदि चारों ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, जबकि केवलज्ञान क्षायिक है। क्षायिक होने के कारण यह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय – इन चार घातीकर्मों का पूर्णतः क्षय होने पर ही होता है, अतः निरावरण और पूर्णज्ञान है। अनन्त और पूर्णज्ञान होने से इसमें न तो किसी प्रकार की अपूर्णता या कमी होती है और न इसे किसी प्रकार के अन्य साधनों की अपेक्षा होती है, अतः यह ज्ञान निरपेक्ष या असहाय होता है। ज्ञानावरण आदि घातीकर्मों का पूर्ण क्षय होने पर ही यह ज्ञान होता है, अतः पूर्णतः शुद्ध भी होता है। केवलज्ञान सभी ज्ञानों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। जैन–दर्शन की मान्यता है, किसी व्यक्ति में पांचों ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान – ये

चारों ज्ञान एक साथ हो सकते हैं, किन्तु केवलज्ञान तो अकेला ही होता है। केवलज्ञान होने पर अन्य ज्ञानों की अपेक्षा ही नहीं होती है। केवलज्ञान होते ही इन चारों ज्ञानों की स्थिति वैसी ही हो जाती है, जैसे सूर्य के उदित होते ही चन्द्र और तारागणों के प्रकाश की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती है, उनका प्रकाश गौण हो जाता है। केवलज्ञान को असहाय कहा है, अर्थात् इस ज्ञान के लिए किसी प्रकार के ज्ञानों या ज्ञान के साधनों की अपेक्षा नहीं होती है। दूसरे, केवलज्ञान अनन्त, पूर्ण एवं अपर्यवसित ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्राप्त होने पर जाता भी नहीं है, इसलिए यह ज्ञान अप्रतिपाति ज्ञान है और इसमें न कभी कमी रहती है। यह सभी कालों के लोक में स्थित सभी मूर्त्त–अमूर्त्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानता है।

केवलज्ञान का विषय

सामान्यतया मति, श्रुत, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान का विषय रूपी–द्रव्य ही होते हैं। मनःपर्यवज्ञान का विषय भी सूक्ष्म रूपी–द्रव्य ही हैं, क्योकि वह भी मूर्त्त रूपी–द्रव्य की सूक्ष्म मनोवर्गणाओं को ही जानता है, जबकि केवलज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त अर्थात् रूपी और अरूपी – दोनों द्रव्य हैं, अतः केवलज्ञान पुद्गल के अतिरिक्त आत्मा, धर्म, अधर्म और आकाश – ऐसी पांचों अस्तिकायों को भी या काल सहित छहों द्रव्यों को भी जानता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञान का विषय सभी द्रव्यों की लोक और अलोकवर्ती सभी पर्यायों को बताया है, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में केवलज्ञान का विषय–क्षेत्र बताते हुए कहा गया है कि 'सर्वद्रव्येषु वा सर्वपर्यायेषु'। वह लोक–अलोक में स्थित सर्वद्रव्यों की सर्वत्रैकालिक पर्यायों (अवस्थाओं) को जानता है, अतः उसके विषय क्षेत्र की अपेक्षा से लोक और अलोक– दोनों ही हैं, साथ ही, द्रव्यों की अपेक्षा से वह लोक–अलोक के सभी द्रव्यों को और भाव एवं काल की अपेक्षा से उनकी त्रैकालिक पर्यायों को भी जानता है, अतः वह केवलज्ञान त्रैकालिक ज्ञान है, अतः वह भूत, वर्त्तमान और भविष्य – त्रिकालों को जानता है। नन्दीसूत्र (33) के अनुसार, जो ज्ञान सर्वद्रव्यों, सर्वक्षेत्रों, सर्वकालों और सर्वभावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता है, वह केवलज्ञान है।

किन्तु, केवलज्ञान के विषय के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द का मन्तव्य

थोड़ा भिन्न है। नियमसार गाथा 159 में वे लिखते हैं कि व्यवहारनय से केवलज्ञानी सबको जानते और देखते हैं, किन्तु निश्चयनय से तो केवलज्ञानी अपनी आत्मा को ही जानते और देखते हैं। केवलज्ञान की दशा में आत्मा निरावरण और शुद्ध होता है, अतः सभी कुछ जो आत्मा में प्रतिबिम्बित होता है, केवलज्ञानी उसे जानता और देखता है। इसी अपेक्षा से यह कहा जाता है कि केवली सब कुछ जानता और देखता है। केवली सर्वद्रव्यों की सभी त्रैकालिक पर्यायों को जानता और देखता है – ऐसा एकान्ततः मानने पर अनेक विसंगतियां भी उत्पन्न होती हैं और जैनदर्शन पुरुषार्थवादी से नियतिवादी बन जाता है। यदि, केवली सभी द्रव्यों की त्रैकालिक पर्यायों को जानता है – ऐसा मानें, तो उसके ज्ञान की अपेक्षा से समग्र भविष्य भी नियत होगा, अतः उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं रहेगी, अतः हमें नियतिवाद या क्रमबद्धपर्यायवाद मानना होगा, किन्तु आगमिक–दृष्टि से ऐसा नहीं है। भगवतीसूत्र में जब यह प्रश्न उठाया गया कि केवली क्या जानता है और क्या नहीं जानता है ? तो उसका उत्तर दिया गया – " केवली सिय जाणई सिय ण जाणई"। जैन–दर्शन की दृष्टि से भी कहें, तो जो 'अनादि' है, केवली भी उसकी आदि/प्रारम्भ को नहीं जान सकता है। केवली से यदि प्रश्न पूछा जाए कि आत्मा कबसे है ? संसार कबसे है ? षट्द्रव्य कबसे है ? आत्मा कर्म से बद्ध कब और कैसे हुआ? जीवात्मा संसार में कबसे भव–भ्रमण कर रहा है ? किसी जीव का प्रथम भव कौनसा था ? तो केवली भी इनका उत्तर नहीं देकर मात्र यही कहेगा कि ये अनादिकाल से हैं। अनादि तथ्यों की आदि बताना – यह केवली के लिए भी सम्भव नहीं है, इसीलिए भगवतीसूत्र में कहा गया है– केवली भी कुछ जानता है, कुछ नहीं जानता है। केवली को सर्वज्ञ भी कहा जाता है।

सर्वज्ञता की धारणा श्रमण और वैदिक – दोनों परम्पराओं की प्राचीन धारणा है। सर्वज्ञतावाद यह मानता है कि सर्वज्ञ देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर कालातीत दृष्टि से सम्पन्न होता है और इस कारण उसे भूत के साथ–साथ भविष्य का भी पूर्वज्ञान होता है, लेकिन जो केवल ज्ञान है, उसमें सम्भावना, संयोग या अनियतता नहीं हो सकती,

नियत घटनाओं का पूर्वज्ञान हो सकता है, अनियत घटनाओं का नहीं। यदि सर्वज्ञ को भविष्य का पूर्वज्ञान होता है और वह यथार्थ भविष्यवाणी कर सकता है, तो इसका अर्थ है कि भविष्य की समस्त घटनाएँ नियत हैं। भविष्यदर्शन और पूर्वज्ञान में पूर्वनिर्धारण गर्भित है। यदि भविष्य की सभी घटनाएँ पूर्वनियत हैं, तो वैयक्तिक–स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का क्या अर्थ है ? यदि जीवन की समस्त घटनाएँ पूर्वनियत हैं, तो नैतिक–आदर्श, वैयक्तिक–स्वातन्त्र्य और पुरुषार्थ का कोई अर्थ नहीं रहता। सर्वज्ञ के पूर्वज्ञान में कर्म का चयन भी निश्चित होता है, उसमें कोई अन्य विकल्प नहीं होता, तब वह चयन चयन ही नहीं होगा और चयन नहीं है, तो उत्तरदायित्व भी नहीं होगा, अर्थात् सर्वज्ञतावाद अनिवार्यतः नियतिवाद की ओर ले जाता है।

सर्वज्ञता का अर्थ

जैन–दर्शन सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। जैनागमों में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनमें तीर्थंकरों एवं केवलज्ञानियों को त्रिकालज्ञ या सर्वज्ञ कहा गया है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, अंतकृत्दशांगसूत्र एवं अन्य जैनागमों में इस त्रिकालज्ञ सर्वज्ञतावादी धारणा के अनुसार गोशालक, श्रेणिक, कृष्ण आदि के भावी जीवन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी की गई है। यह भी माना गया है कि सर्वज्ञ जिस रूप में घटनाओं का घटित होना जानता है, वे उसी रूप में घटित होती हैं। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जिसकी जिस देश, जिस काल और जिस प्रकार से जन्म अथवा मृत्यु की घटनाओं को सर्वज्ञ ने देखा है, वे उसी देश, उसी काल और उसी प्रकार से होंगी। उसमें इन्द्र या तीर्थंकर कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता। उत्तरकालीन जैन–ग्रन्थों में इस त्रैकालिक ज्ञान सम्बन्धी सर्वज्ञत्व की अवधारणा का मात्र विकास ही नहीं हुआ, वरन् उसको तार्किक–आधार पर सिद्ध करने का प्रयास भी किया गया है। यद्यपि बुद्ध ने महावीर की त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की धारणा का खण्डन करते हुए उसका उपहासात्मक–चित्रण भी किया और अपने सम्बन्ध में त्रिकालज्ञ सर्वज्ञता की इस धारणा का निषेध भी किया था, लेकिन परवर्त्ती बौद्ध–साहित्य में बुद्ध को भी उसी अर्थ

में सर्वज्ञ स्वीकार कर लिया गया, जिस अर्थ में जैन–तीर्थंकरों अथवा ईश्वरवादी–दर्शनों में ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है। सर्वज्ञत्व के इस अर्थ को लेकर कि "सर्वज्ञ हस्तामलकवत् सभी जागतिक्–पदार्थों की त्रैकालिक–पर्यायों को जानता है", जैन–विद्वानों ने भी काफी ऊहापोह किया है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन में सर्वज्ञता की नई परिभाषाएं भी प्रस्तुत की गई हैं।

कुन्दकुन्द और हरिभद्र का दृष्टिकोण

प्राचीन युग में आचार्य कुन्दकुन्द और याकिनीसुनू हरिभद्र ने सर्वज्ञता की त्रिकालदर्शी उपयुक्त परम्परागत परिभाषा को मान्य रखते हुए भी नई परिभाषाएँ प्रस्तुत की। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में कहा है –

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवलीभगवं।
केवलणाणी जाणदिपस्सदि नियमेण अप्पाणं।।

– नियमसार, 159

सर्वज्ञ लोकालोक जैसी आत्मेतर सभी वस्तुओं को जानता है– यह व्यवहारनय है, जबकि यह कहना कि सर्वज्ञ अपने आत्मस्वरूप को जानता है– यह परमार्थदृष्टि है। इसके अतिरिक्त, नियमसार (166), प्रवचनसार (80) एवं समयसार (11) द्रष्टव्य हैं। आचार्य हरिभद्र ने भी सर्वज्ञता का सर्वसम्प्रदाय–अविरुद्ध अर्थ किया था। पं. सुखलालजी लिखते हैं कि प्रथमतः हरिभद्र ने सर्वज्ञत्व के त्रैकालिकज्ञान होने का हेतुवाद से समर्थन किया, किन्तु जब उनको हेतुवाद में त्रुटि या विरोध दिखाई दिया, तो उन्होंने सर्वज्ञत्व सर्वसम्प्रदाय अविरुद्ध अर्थ किया, 'अपना योग सुलभ माध्यस्थ भाव'– यह अर्थ प्रकट किया (देखें– दर्शन और चिन्तन, खण्ड 2, पृ. 553)।

पं. सुखलालजी का दृष्टिकोण

वर्त्तमान युग के पण्डित सुखलालजी ने आचारांग एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति के सन्दर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आत्म, जगत् एवं साधना– मार्ग सम्बन्धी दार्शनिक–ज्ञान को ही उस युग में सर्वज्ञत्व माना जाता था, न कि त्रैकालिक–ज्ञान को। जैन–परम्परा का सर्वज्ञत्व सम्बन्धी

दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समानभाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है। बुद्ध जब मालुंक्यपुत्त नामक अपने शिष्य से कहते हैं कि मैं चार आर्यसत्यों के ज्ञान का ही दावा करता हूँ और दूसरे अगम्य एवं काल्पनिक तत्त्वों के ज्ञान का नहीं, तब वह वास्तविकता की भूमिका पर हैं। उसी भूमिका के साथ महावीर के सर्वज्ञत्व की तुलना करने पर भी फलित यही होता है कि अत्युक्ति और अल्पोक्ति नहीं करने वाले सन्त–प्रकृति के महावीर द्रव्य–पर्यायवाद की पुरानी निर्ग्रन्थ–परम्परा के ज्ञान को ही सर्वज्ञत्व–रूप मानते होंगे। जैन और बौद्ध – परम्परा में इतना फर्क अवश्य रहा है कि अनेक तार्किक बौद्ध–विद्वानों ने बुद्ध को त्रैकालिक–ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ स्थापित करने का प्रयत्न किया है, तथापि अनेक असाधारण (प्रतिभासम्पन्न) बौद्ध–विद्वानों ने उनको सीधे–सादे अर्थ में ही सर्वज्ञ घटाया है। बौद्ध–परम्परा में सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ या वस्तु–स्वरूप का ज्ञाता – इतना ही रहा है, जबकि जैन–परम्परा में सर्वज्ञ का सीधा–सादा अर्थ भुला दिया गया और उसके स्थान पर तर्कसिद्ध अर्थ ही प्रचलित एवं प्रतिष्ठित हो गया। जैन–परम्परा में सर्वज्ञ के स्थान पर प्रचलित पारिभाषिक–शब्द केवलज्ञानी भी अपने मूल अर्थ में दार्शनिक–ज्ञान की पूर्णता को ही प्रकट करता है, न कि त्रैकालिक–ज्ञान को। 'केवल' शब्द सांख्यदर्शन में भी प्रकृतिपुरुषविवेक के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है और यदि यह शब्द सांख्य–परम्परा से जैन–परम्परा में आया है– यह माना जाए, तो इस आधार पर भी केवलज्ञान का अर्थ दार्शनिक–ज्ञान अथवा तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही होगा, न कि त्रैकालिक–ज्ञान। आचारांग का यह वचन– 'जे एगं जाणई, से सव्वं जाणइ', यही बताता है कि जो एक आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है, वह उसकी सभी कषायपर्यायों को भी यथार्थ रूप से जानता है, न कि त्रैकालिक–सर्वज्ञता। केवलज्ञानी के सम्बन्ध में आगम का यह वचन कि 'सी जाणइ, सी ण जाणइ' (भगवतीसूत्र) भी यही बताता है कि केवलज्ञान त्रैकालिक–सर्वज्ञता नहीं है, वरन् आध्यात्मिक या दार्शनिक–ज्ञान है।

डॉ. इन्द्रचन्द्रशास्त्री का दृष्टिकोण

सर्वज्ञता के स्थान पर प्रयुक्त होने वाला अनन्तज्ञान भी त्रैकालिक–ज्ञान

नहीं हो सकता। अनन्त का अर्थ सर्व नहीं माना जा सकता। वस्तुतः, यह शब्द स्तुतिपरक अर्थ में ही आया है, जैसे वर्त्तमान में भी किसी असाधारण विद्वान् के बारे में यह कह देते हैं कि उनके ज्ञान का क्या अन्त ? उनका ज्ञान तो अथाह है। इसी प्रकार, दूसरे शब्दों में, केवलज्ञान आत्म–अनात्म के विवेक या आध्यात्मिक–ज्ञान से सम्बन्धित है।

सर्वज्ञता का त्रैकालिक–ज्ञान सम्बन्धी अर्थ और पुरुषार्थ की सम्भावना

लेकिन, एक गवेषक विद्यार्थी के लिए यह उचित नहीं होगा कि परम्परासिद्ध त्रैकालिक–सर्वज्ञता की धारणा की अवहेलना कर दी जाए। न केवल जैन–परम्परा में, वरन् बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में भी सर्वज्ञता का त्रैकालिक–ज्ञानपरक अर्थ स्वीकृत रहा है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह कहकर कि "उन अनेक जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं", अपनी सर्वज्ञता का ही निर्देश किया है। यद्यपि मीमांसा–दर्शन के अनुसार यह प्रश्न शंका की दृष्टि से देखा जा सकता है कि महावीर, बुद्ध और कृष्ण सर्वज्ञ थे या नहीं, अथवा किसी व्यक्ति को ऐसा त्रैकालिक–ज्ञान हो सकता है या नहीं ? फिर भी, त्रैकालिक–सर्वज्ञ की कल्पना तर्कविरुद्ध नहीं कही जा सकती। देश और काल की सीमाओं से ऊपर उठकर त्रिकालज्ञ–सर्वज्ञ की धारणा सिद्ध हो जाती है। प्रबुद्ध वैज्ञानिक एवं सापेक्षवाद के प्रवर्त्तक आइन्स्टीन ने निरपेक्ष–दृष्टा की परिकल्पना को स्वीकार किया था। कोई त्रिकालज्ञ–सर्वज्ञ अस्तित्त्व में है या था– यह चाहे सत्य न हो, लेकिन कोई त्रिकालज्ञ–सर्वज्ञ हो सकता है– यह तार्किक सत्य अवश्य है, क्योंकि यदि जगत् एक नियमबद्ध व्यवस्था है, तो उस व्यवस्था के ज्ञान के साथ ही ठीक वैसे ही त्रैकालिक–घटनाओं के ज्ञान की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है, जैसे एक ज्योतिषी को नक्षत्र–विज्ञान के नियमों के ज्ञान के आधार पर भूत, भविष्य और वर्त्तमान के सभी सूर्य एवं चन्द्र–ग्रहणों की घटनाओं का त्रैकालिक–ज्ञान हो जाता है। यदि सर्वज्ञ आत्म–द्रव्य की सभी पर्यायों को जानता है, तो हमें आत्मा की सभी पर्यायों को नियत भी मानना होगा। यह मान्यता स्पष्ट रूप से पूर्व

निर्धारणवाद या नियतिवाद की दिशा में ले जाती है। यद्यपि नियतिवाद और जैन–सर्वज्ञता की धारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ नियतिवाद में पुरुषार्थ या व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अस्वीकार कर नियतता को स्वीकार किया जाता है, वहाँ सर्वज्ञ के ज्ञान में भी पुरुषार्थ और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मानकर ही सब भावों की नियतता को स्वीकार किया जाता है। आचार्य हस्तीमलजी म.सा. ने अपने एक लेख में इसका समर्थन किया था। यद्यपि उन्होंने महावीर के जीवनप्रसंगों के आधार पर घटनाओं को नियतानियत मानकर सर्वज्ञता और पुरुषार्थवाद में संगति बिठाने का प्रयास किया है, तथापि पर्यायों को नियतानियत मानने से त्रिकालज्ञ–सर्वज्ञता की धारणा काफी निर्बल हो जाती है। त्रिकालज्ञ–सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ की सम्भावना नियत–पुरुषार्थ के रूप में ही हो सकती है। पाश्चात्य–विचारक स्पीनोजा ने भी ऐसे ही नियत–पुरुषार्थ की धारणा को स्वीकार किया है। सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ नियत होता है, अनियत नहीं। वह धारणा पुरुषार्थ या वैयक्तिक–स्वतन्त्रता का अपहरण तो नहीं करती, लेकिन उसे अनियत भी नहीं रहने देती। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि नियतिवाद पुरुषार्थ का अपलाप नहीं करता है। वह कहता है कि सिद्धरूप साध्य भी नियत है, तदैव पुरुषार्थरूप साधन भी नियत है। दोनों ही आत्मा की पर्याय हैं। एक सिद्धिरूप पर्याय है, दूसरी साधनरूप पर्याय है। नियतिवाद में पुरुषार्थ को स्थान नहीं है, बिना कारण के ही वहाँ कार्य होता है, यह बात नहीं है। नियति में पुरुषार्थ होता है, पर वह भी नियत ही होता है, अनियत नहीं, साथ ही, सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ का अपलाप इसलिए भी नहीं होता कि सर्वज्ञता की धारणा नियतता का प्रमाण हो सकती है, लेकिन कारण नहीं। सर्वज्ञता का प्रत्यय व्यक्ति का नियामक नहीं बनता, वह मात्र उसकी नियतता को जानता है। पुरुषार्थ ज्ञान की दृष्टि से नियत अवश्य होता है, लेकिन पुरुषार्थ जिनके द्वारा किया जाता है, वह तो ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञान से नियत नहीं होता। इस प्रकार, सर्वज्ञता के प्रत्यय में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कुण्ठन नहीं होता। सर्वज्ञ से व्यक्ति का कर्त्तृत्व निर्धारित नहीं होता, वरन् सर्वज्ञ भविष्य में जो किया जाने वाला है, उसको जानता है। सर्वज्ञ जो जानता है, व्यक्ति वैसा

करने को बाध्य है – ऐसा नहीं, वरन् जो व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला है, उसे सर्वज्ञ जानता है – ऐसा मानने पर सर्वज्ञता की धारणा में पुरुषार्थ और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपलाप नहीं होता। श्री यदुनाथ सिन्हा भी लिखते हैं कि ईश्वर का पूर्वज्ञान भी मानवीय–स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं है। प्राक्दृष्टि अथवा पूर्वज्ञान का अर्थ अनिवार्यतः पूर्वनिर्धारण नहीं है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि सर्वज्ञतावाद निर्धारणवाद या नियतिवाद नहीं है।

क्या केवलज्ञान निर्विकल्प है ?

पण्डित कन्हैयालालजी लोढ़ा ने सर्वज्ञता के सम्बन्ध में एक यह प्रश्न उपस्थित किया है कि केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर विचार–विकल्प रहते हैं या नहीं रहते हैं ? सामान्य दृष्टिकोण यह है कि केवलज्ञान की अवस्था निर्विचार और निर्विकल्प की अवस्था है, किन्तु जैन–कर्म–सिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग– दोनों ही होते हैं। दर्शनोपयोग को निर्विकल्प या अनाकार तथा ज्ञानोपयोग को सविकल्प या साकार माना गया है। पुनः, केवली भी जब चौदहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के चतुर्थ पाद पर आरूढ़ होते हैं, तब ही वे निर्विचार अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान की अवस्था में विचार तो रहता है, क्योंकि केवलज्ञानी जब तक सयोग–अवस्था में रहता है, तब तक उसकी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है। उसमें मनोयोग का अभाव नहीं है, मन की प्रवृत्ति है, अतः विचार है। यदि केवली निर्विचार या निर्विकल्प होता, तो फिर उसे अयोगीकेवली– अवस्था में पहले स्थूल मन और फिर सूक्ष्म मन के निरोध की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन की प्रवृत्तियों का निरोध यदि अयोगीकेवली–अवस्था में ही होता है, तो फिर सयोगीकेवली–अवस्था में मन क्या कार्य करता है ? क्योंकि निर्विकल्पता की अवस्था में तो मन के लिए कोई कार्य ही शेष नहीं रहता है। यदि ऐसा मानें कि केवली में भाव–मन नहीं रहता है, मात्र द्रव्य–मन रहता है, किन्तु द्रव्यमन भी बिना भाव–मन के नहीं रह सकता। भाव–मन के अभाव में द्रव्य–मन तो मात्र एक पौद्गलिक–संरचना होगा, जो जड़ होगा और जड़ में विचार–सामर्थ्य संभव नहीं है और विचार के बिना मनोयोग के निरोध का भी कोई अर्थ

नहीं रह जाती है। मेरी दृष्टि में इस संदर्भ में पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा का यह मन्तव्य उचित ही लगता है कि वस्तुतः विचार या विकल्प दो प्रकार के होते हैं – एक, कामनारूप विचार और दूसरा, निर्विकार या निष्कामबोध विचार। निष्काम विचार में मात्र कर्त्तव्य–बुद्धि होती है। केवली में कामनारूप या जिज्ञासारूप विकल्प नहीं होते, किन्तु विवेकरूप विकल्प तो होते हैं। यह भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में, गुण को गुण के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानता है और ऐसा ज्ञान विकल्परूप सम्यक् ज्ञान भी है।

जैनदर्शन में प्रमाण–मीमांसा

जैन–न्याय की विकास–यात्रा

न्याय एवं प्रमाण–चर्चा के क्षेत्र में सामान्य रूप से जैन–दार्शनिकों का और उनके ग्रन्थों का प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में क्या अवदान है, यह जानने के लिए जैन–न्याय के विकासक्रम को जानना आवश्यक है। यद्यपि जैनों का पंचज्ञान का सिद्धान्त पर्याप्त प्राचीन है और जैन–विद्या के कुछ विद्वान् उसे पार्श्व के युग तक ले जाते हैं, किन्तु जहाँ तक प्रमाण–विचार का क्षेत्र है, उसमें जैन का प्रवेश नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही हुआ है। प्रमाण–चर्चा के प्रसंग में जैनों का प्रवेश चाहे परवर्ती हो, किन्तु इस कारण से इस क्षेत्र में वे जो विशिष्ट अवदान दे सके हैं, वह हमारे लिए गौरव की वस्तु है।

इस क्षेत्र में परवर्ती होने का लाभ यह हुआ कि "जैनों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्तों के गुण–दोषों का सम्यक् मूल्यांकन करके फिर अपने मन्तव्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह पक्ष और प्रतिपक्ष की तार्किक–कमियों का परिमार्जन करते हुए एक व्यापक और समन्वयात्मक सिद्धान्त बन सके।" पं. सुखलालजी के अनुसार, जैन प्रमाण–मीमांसा ने मुख्यतः तीन युगों में अपने क्रमिक–विकास को पूर्ण किया है – 1. आगम– युग, 2. अनेकान्तस्थापन–युग और 3. न्याय एवं प्रमाणस्थापन–युग। यहाँ हम इन युगों की विशिष्टताओं की चर्चा न करते हुए केवल इतना कहना चाहेंगे कि जैनों ने अपने अनेकान्त–सिद्धान्त को स्थिर करके फिर प्रमाण–विचार के क्षेत्र में कदम रखा था। उनके इस परवर्ती प्रवेश का एक

लाभ तो यह हुआ कि पक्ष और प्रतिपक्ष का अध्ययन कर वे उन दोनों की कमियों और तार्किक–असंगतियों को समझ सके तथा दूसरे, पूर्व–विकसित उनकी अनेकान्तदृष्टि का लाभ यह हुआ कि वे उन दोनों के मध्य समन्वय स्थापित कर सके। उन्होंने पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच समन्वय स्थापित करने का जो प्रयास किया, उसी में उनका सिद्धान्त स्थिर हो गया और यही उनका न्याय एवं क्षेत्र में विशिष्ट अवदान कहलाया। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका सदैव एक तटस्थ न्यायाधीश की रही। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की समीक्षा के माध्यम से सदैव अपने चिन्तन को समृद्ध किया और जहाँ आवश्यक लगा, वहाँ अपनी पूर्व मान्यताओं को संशोधित और परिमार्जित भी किया। चाहे सिद्धसेन हों या समन्तभद्र, अकलंक हों या विद्यानन्द, हरिभद्र हों या हेमचन्द्र – सभी ने अपने ग्रन्थों के निर्माण में जहाँ अपनी परम्पराओं के पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन किया, वहीं अन्य परम्परा के पक्ष और प्रतिपक्ष का भी गम्भीर अध्ययन किया, अतः जैनन्याय या प्रमाण–विचार स्थिर न रहकर गतिशील बना रहा। वह युग–युग में परिष्कृत, विकसित और समृद्ध होता रहा।

इससे यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन में प्रमाण–चर्चा एक परवर्ती अवधारणा है। नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्धों के पश्चात् ही जैनों ने प्रमाण–विवेचन को अपना विषय बनाया था। सम्भवतः, इसका काल लगभग ईसा की चौथी–पांचवी शताब्दी से प्रारम्भ होता है, क्योंकि लगभग तीसरी शताब्दी के जैन–ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में 'ज्ञानं प्रमाणम्'– मात्र इतना ही उल्लेख मिलता है। जैन–आगमों में भी पमाण (प्रमाण) शब्द का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनमें प्रायः प्रमाण से क्षेत्रगत या कालगत परिमाण को ही सूचित किया गया है। प्राचीन स्तर के दिगम्बर–ग्रन्थों में भी उक्त 'प्रमाण' शब्द वस्तुतः नापतौल की ईकाई के रूप में ही माना गया है। आगमों में केवल एक स्थान पर चार प्रमाणों की चर्चा हुई है, किन्तु वे चार प्रमाण वस्तुतः नैयायिकों के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान–प्रमाण के समरूप ही हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि जैनों में प्रमाण–चर्चा का विकास एक परवर्ती घटना है। आगमों में उक्त प्रमाण–चर्चा का विशेष उल्लेख हमें नहीं मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व में कहा, आगमों में मात्र

एक स्थान पर नैयायिकों का अनुसरण करते हुए चार प्रमाणों का उल्लेख देखा जा सकता है।

कालक्रम की अपेक्षा से आगमयुग के पश्चात् जैनदर्शन में 'अनेकान्त स्थापना' का युग आता है। इसका काल लगभग चौथी शताब्दी से प्रारम्भ करके आठवीं–नवीं शताब्दी तक जाता है। इस कालखण्ड के प्रथम दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर और दिगम्बर–परम्परा की अपेक्षा से समन्तभद्र माने जा सकते हैं। इस युग में प्रमाण–चर्चा का विकास हो रहा था। इस युग में प्रमाण को परिभाषित करते हुए जैनाचार्यों ने कहा– " प्रमीयते येन तत् प्रमाणम् ", अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाता है, वह प्रमाण है, इस प्रकार ज्ञान का साधन है। तत्त्वार्थसूत्र (1/10) में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष और परोक्ष– ऐसे दो प्रमाणों का ही उल्लेख मिलता है, उसमें जैनों के द्वारा मान्य पांच ज्ञानों को ही इन दो प्रमाणों में वर्गीकृत किया गया है। कालान्तर में 'नन्दीसूत्र' में प्रत्यक्ष–प्रमाण के दो विभाग किये गये – 1. पारमार्थिक–प्रत्यक्ष और 2. सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष के ऐसे दो विभाग नहीं करके मात्र पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान को परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यव तथा केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। यह स्पष्ट है कि जैनों ने लगभग पाँचवीं शताब्दी में ही ऐन्द्रिय–प्रत्यक्ष को, जो कि पूर्व में परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत ही आता था, लोक–परम्परा का अनुसरण करते हुए सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष नाम दिया। इस प्रकार, प्रत्यक्ष के दो विभाग सुनिश्चित हुए – सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष और पारमार्थिकप्रत्यक्ष। इनमें पारमार्थिकप्रत्यक्ष को आत्मिकप्रत्यक्ष और सांव्यावहारिकप्रत्यक्ष को ऐन्द्रिकप्रत्यक्ष भी कहा गया। परोक्षप्रमाण के विभागों की चर्चा परवर्तीकाल में उठी थी। दिगम्बर–परम्परा में अकलंक ने प्रायः आठवीं शती में और श्वेताम्बर–परम्परा में सिद्धऋषि ने लगभग नवीं शताब्दी में परोक्ष–प्रमाण के पाँच भेद किये, जो क्रमशः इस प्रकार हैं – (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञान (पहचानना), (3) तर्क, (4) अनुमान और (5) आगम। दिगम्बर–परम्परा में आचार्य अकलंक ने भी प्रत्यक्ष को मिलाकर अपनी कृतियों में छः प्रमाणों की चर्चा की थी – (1) प्रत्यक्ष, (2) स्मृति, (3) प्रत्यभिज्ञान, (4) तर्क, (5) अनुमान और (6) आगम, किन्तु इस व्यवस्था के पूर्व जैनों में भी प्रत्यक्ष,

अनुमान और आगम या शब्द – ऐसे तीन ही प्रमाण माने थे। यद्यपि जैन–आगमों ने उपमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु कालान्तर में इसका अन्तर्भाव अनुमान में करके स्वतंत्र प्रमाण के रूप में इसका परित्याग कर दिया गया था। जहाँ तक भारतीय–चिन्तन का प्रश्न है, उसमें सामान्यतया जैनों को तीन प्रमाण मानने वाला ही स्वीकार किया गया है। भारतीय–चिन्तन में प्रमाणों की संख्या सम्बन्धी चर्चा को लेकर विभिन्न दर्शनों में इस प्रकार की व्यवस्था रही है –

(1) चार्वाक–दर्शन– 1 प्रत्यक्ष–प्रमाण।
(2) वैशेषिक एवं बौद्ध–दर्शन – 1. प्रत्यक्ष और 2. अनुमान प्रमाण।
(3) सांख्य एवं प्राचीन जैन–दर्शन – 1. प्रत्यक्ष 2. अनुमान और 3. आगम या शब्द प्रमाण।
(4) न्यायदर्शन– 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. शब्द और 4. उपमान–प्रमाण।
(5) मीमांसादर्शन (प्रभाकर–सम्प्रदाय) – 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. शब्द, 4. उपमान और 5. अर्थापत्ति–प्रमाण।
(6) मीमांसादर्शन का भाट्ट–सम्प्रदाय और वेदान्त– 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. शब्द, 4. उपमान, 5. अर्थापत्ति और 6. अभाव–प्रमाण।

प्रमाण–लक्षण

सामान्यतः, 'प्रमाण' शब्द से प्रामाणिक–ज्ञान का ही अर्थबोध होता है, किन्तु कौनसा ज्ञान प्रामाणिक होगा, इसके लिये विभिन्न दर्शनों में प्रमाण के लक्षणों का निरूपण किया गया है। सामान्यतः, उस ज्ञान को ही प्रमाण माना जा सकता था, जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान या प्रमाण से खण्डित न हो और वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करे, किन्तु कालान्तर में प्रमाण के लक्षणों की चर्चा काफी विकसित हुई। सामान्यतः, इसमें प्रमाण के स्वरूप को लेकर दो वर्ग सामने आए – प्रथम वर्ग में नैयायिकों (न्यायदर्शन) का कहना यह था कि प्रमाण वह है, जो पदार्थ को उसके यथार्थ रूप में जानता हो, किन्तु इसके विपरीत, दूसरे वर्ग में बौद्धों का कहना यह था कि प्रमाण वह है, जो अपने स्वानुभूत ज्ञान को ही प्रामाणिक रूप से जानता है। इस दूसरे वर्ग ने प्रमाण के संबंध में यह निश्चित किया कि 'स्वानुभूत ज्ञान ही प्रमाण है।' इस प्रकार, प्रमाण–लक्षण के सन्दर्भ में

पुनः दो मत देखे जाते हैं। जहाँ बौद्धों ने ज्ञान को प्रमाण मानकर भी ज्ञानाकारता/तदाकारता को प्रमाण रूप माना, वहीं जैनों ने इस तदाकारता का खण्डन करके स्व–पर प्रकाशकत्व को प्रमाण रूप माना। जहाँ नैयायिकों का कहना था कि ज्ञान पर (पदार्थ) प्रकाशक है, अतः ज्ञान के करण (साधन) ही प्रमाण होते हैं, वे 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' को प्रमाण मानते थे। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र में जैनों ने 'तत् प्रमाणे' कहकर ज्ञान को प्रमाण मानने के मत का समर्थन किया था, वहाँ नैयायिकों ने ज्ञान के करण अर्थात् साधन–इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग को ही प्रमाण माना, यद्यपि बौद्ध और जैन – दोनों ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे। जैनों के अनुसार, न तो बौद्धों द्वारा मान्य ज्ञान में वस्तु की चेतना, जो तदाकारता बनती है, वही ज्ञानरूपता प्रमाण है और न नैयायिकों द्वारा मान्य 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' ही प्रमाण है। जैनाचार्यों ने इस सम्बन्ध में बौद्धों और नैयायिकों – दोनों की आलोचना की। नैयायिकों के मत के अनुसार, प्रमाण 'पर' (पदार्थ) का प्रकाशक अर्थात् पदार्थ का ज्ञान कराने वाला होता है, जबकि बौद्धों ने यह माना था कि प्रमाण 'स्व' का अर्थात् अपने ज्ञान का ही ज्ञान कराता है, अर्थात् वह स्व–प्रकाशक है। इस प्रकार, प्रमाण के लक्षण में दो प्रकार की अवधारणाएं बनीं – एक, प्रमाण स्व–प्रकाशक है और दूसरी, प्रमाण पर (पदार्थ)–प्रकाशक है। प्रमाण पर–प्रकाशक है – इस मत के समर्थक नैयायिक और वैशेषिक– दर्शन थे, जबकि, प्रमाण मात्र स्व–प्रकाशक है – इस मत के समर्थक विज्ञानवादी–बौद्ध थे। जैनों के सामने जब प्रमाण के स्वप्रकाशकत्व और परप्रकाशकत्व का प्रश्न आया, तो उन्होंने अपनी अनेकान्त–दृष्टि के आधार पर उसे स्व–परप्रकाशक माना। सर्वप्रथम श्वेताम्बर–परम्परा में आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार (1) में और दिगम्बर–परम्परा में आचार्य समन्तभद्र ने सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थसूत्र की टीका (1/10) में इस मत का समर्थन किया और इस प्रकार प्रमाण का जैनों ने जो लक्षण निर्धारित किया, उसमें उन्होंने उसे 'स्व' अर्थात् अपने ज्ञान का तथा 'पर' अर्थात् पदार्थ–ज्ञान का प्रकाशक माना। बौद्ध पदार्थ–ज्ञान को इसलिए प्रमाणभूत नहीं मानते थे कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान से पृथक् ज्ञेय अर्थात् पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता ही

नहीं मानते थे।

आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार की निम्न कारिका में इस बात को स्पष्ट किया है –

प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा, मेयविनिश्चयात् ।। – न्यायावतार, 1

इस प्रकार, न्यायावतार में प्रमाण का लक्षण करते हुए उसे स्व और पर – दोनों का ज्ञान या प्रकाशक होना माना है, साथ ही, उसे बाधविवर्जित अर्थात् स्वतः सुसंगत भी माना गया है, सुसंगत होने का अर्थ है– अविसंवादित या पारस्परिक–विरोध से रहित होना। इस प्रकार, प्रारम्भ में प्रमाण के दो मुख्य लक्षण माने गये। ये दो लक्षण थे – 1.स्व–पर–प्रकाशत्व 2. बाध–विवर्जितत्व, किन्तु प्रमाणनयतत्त्वालोक में प्रकाशत्व के स्थान पर व्यवसायात्मकता पर अधिक बल दिया गया है और कहा गया कि "स्व पर व्यवसायत्मकं ज्ञानं प्रमाणम"। व्यवसायात्मकता के माध्यम से प्रमाण को निश्चयात्मक ज्ञान माना गया। इस प्रकार, निर्विकल्पात्मक प्रत्यक्ष का अर्थात् ज्ञान का खण्डन किया गया, साथ ही, उसे समारोयपरिपंथी कहकर यह बताया कि जो ज्ञान संशय, विपर्यय अध्ययन से रहित होकर निश्चयात्मक हो, वही प्रमाण–रूप होता है। इसके पश्चात्, अकलंक ने बौद्ध–परम्परा का अनुसरण करते हुए अष्टशती में बाधविवर्जित के स्थान पर अविसंवादिता को प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया, किन्तु इन दोनों में शब्द–भेद होते हुए भी अर्थभेद नहीं था। इसी क्रम में, मीमांसकों के प्रभाव से अकलंक ने अनधिगतार्थक या अपूर्व को भी प्रमाण–लक्षण के रूप में सन्निविष्ट किया। अकलंक और माणिक्यनंदी ने प्रमाण–लक्षण के रूप में अपूर्व को अधिक महत्व दिया था। इस प्रकार, जैन–परम्परा में प्रारम्भ में प्रमाण के चार लक्षण माने थे – 1. स्वप्रकाशक, 2. परप्रकाशक, 3. बाधविवर्जित या अविसंवादी और 4. अनअधिगतार्थक या अपूर्व। लगभग हेमचन्द्र के पूर्व तक जैन–परम्परा में प्रमाण के यही चार लक्षण माने जाते रहे थे, किन्तु हेमचन्द्र ने इन्हें अन्य शब्दावली में प्रकट किया है, उनके अनुसार 'सम्यक् अर्थनिर्णयः' ही प्रमाण है।

आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणमीमांसा नामक यह ग्रन्थ भी इसी क्रम में

हुए जैन प्रमाण–मीमांसा के विकास का एक चरण है। प्रमाणमीमांसा एक अपूर्ण ग्रन्थ है। न तो मूलग्रन्थ और न उसकी वृत्ति ही पूर्ण है। उपलब्ध मूल सूत्र मात्र 100 हैं और इन्हीं पर वृत्ति भी उपलब्ध है। इसका तात्पर्य यही है कि यह ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र अपने जीवन–काल में पूर्ण नहीं कर सके थे। इसका फलित यह भी है कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही इस कृति का लेखन प्रारम्भ किया होगा। यह ग्रन्थ भी कणादसूत्र या वैशेषिकसूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र की तरह सूत्र–शैली का ग्रन्थ है, फिर भी इस ग्रन्थ की वर्गीकरण–शैली भिन्न ही है। आचार्य की योजना इसे पाँच अध्यायों में समाप्त करने की थी और वे प्रत्येक अध्याय को दो–दो आह्निकों में विभक्त करना चाहते थे, किन्तु आज इसके मात्र दो अध्याय अपने दो–दो आह्निकों के साथ उपलब्ध हैं। अध्याय और आह्निक का यह विभाग–क्रम इसके पूर्व अक्षपाद के न्यायसूत्रों एवं जैन–परम्परा में अकलंक के ग्रन्थों में देखा जाता है। अपूर्ण होने पर भी इस ग्रन्थ की महत्ता व मूल्यवत्ता अक्षुण्ण बनी हुई है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ के लेखन में अपनी परम्परा और अन्य दार्शनिक–परम्पराओं के न्याय–सम्बन्धी ग्रन्थों का पूरा अवलोकन किया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में, "आगमिक–साहित्य के अति विशाल खजाने के उपरान्त 'तत्त्वार्थ' से लेकर 'स्याद्वादरत्नाकर' तक के संस्कृत तार्किक जैन–साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन–पथ में आई, जिससे हेमचन्द्र का सर्वांगीण सर्जक व्यक्तित्व सन्तुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ, जो अब तक के जैन– वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।" वस्तुतः; निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, तत्त्वार्थ और उसका स्वोपज्ञभाष्य जैसे आगमिक एवं दार्शनिक–ग्रन्थ तथा सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, अकलंक, माणिक्यनन्दी और विद्यानन्द की प्रायः समग्र कृतियाँ इसकी उपादान सामग्री बनी हैं। पं. सुखलालजी की मान्यता है कि प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड', अनन्तवीर्य की 'प्रमेयरत्नमाला' और वादिदेवसूरि के 'स्याद्वादरत्नाकर' का इसमें स्पष्ट उपयोग हुआ है, फिर भी उनकी दृष्टि में अकलंक और माणिक्यनन्दी का मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। इसी प्रकार, बौद्ध और वैदिक–परम्परा के वे सभी ग्रन्थ,

जिनका उपयोग, पूर्वाचार्यों की जैनन्याय की कृतियों में हुआ है। स्वाभाविक रूप से वे सभी ग्रन्थ उनकी कृति के आधार बने हैं। पुनः, वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बौद्ध–परम्परा के दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शान्तरक्षित तथा वैदिक–परम्परा के कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्सायन, उद्योतकर, जयन्त, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर और कुमारिल की कृतियाँ उनके अध्ययन का विषय रही हैं। वस्तुतः, अपनी परम्परा के और प्रतिपक्षी बौद्ध एवं वैदिक–परम्परा के इन विविध ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप ही हेमचन्द्र जैन–न्याय के क्षेत्र में एक विशिष्ट कृति प्रदान कर सके। हेमचन्द्र को इस कृति की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई? जब उनके सामने अभयदेव का 'वादार्णव' और वादिदेव के 'स्याद्वादरत्नाकर' जैसे अपनी परम्परा के सर्वसंग्राहक ग्रन्थ उपस्थित थे, फिर उन्होंने यह ग्रन्थ क्यों रचा ? इस सम्बन्ध में पं. सुखलालजी कहते हैं– यह सब हेमचन्द्र के सामने था, पर उन्हें मालूम हुआ कि न्याय–प्रमाण–विषयक (इस) साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है, जो अति महत्त्व का होते हुए भी एक–एक विषय की ही चर्चा करता या बहुत संक्षिप्त है। दूसरा (कुछ) भाग ऐसा है कि जो सर्व विषय संग्राही तो है, पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा भाषा की अपेक्षा से क्लिष्ट है कि सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय नहीं बन सकता। इस विचार से हेमचन्द्र ने एक ऐसा प्रमाण–विषयक ग्रन्थ बनाना चाहा, जो उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक–विषय की चर्चा से खाली न रहे, फिर भी वह सामान्य बुद्धि के पाठक के पठन–पाठन के योग्य तथा मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि से 'प्रमाणमीमांसा' का जन्म हुआ।

यह ठीक है कि प्रमाणमीमांसा सामान्य बौद्धिक–स्तर के पाठकों के लिए मध्यम आकार का पठन–पाठन के योग्य ग्रन्थ है, किन्तु इससे उसके वैदुष्यपूर्ण और विशिष्ट होने में कोई आँच नहीं आती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना में अपने एवं इतर परम्परा के पूर्वाचार्यों का उपयोग किया है, फिर भी इस ग्रन्थ में यत्र–तत्र अपने स्वतन्त्र चिन्तन और प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने किया है, अतः इसकी मौलिकता को नकारा नहीं जा सकता है। इस ग्रन्थ की रचना में अनेक स्थलों पर हेमचन्द्र ने विषय

को अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और इसी कारण ग्रन्थ में यत्र–तत्र उनके वैदुष्य और स्वतन्त्र चिन्तन के दर्शन होते हैं, किन्तु उस सबकी चर्चा इस लघु निबन्ध में कर पाना सम्भव नहीं है। पं. सुखलालजी ने इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र के वैशिष्ट्य की चर्चा अपने भाषा–टिप्पणों में की है, जिन्हें वहाँ देखा जा सकता है। यहाँ तो हम मात्र प्रमाण–निरूपण में हेमचन्द्र के प्रमाणमीमांसा के वैशिष्ट्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रमाणमीमांसा में प्रमाण–लक्षण :

प्रमाणमीमांसा में हमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः' कह कर दिया है। यदि हम हेमचन्द्र द्वारा निरूपित इस प्रमाणलक्षण पर विचार करते हैं, तो यह पाते हैं कि यह प्रमाणलक्षण पूर्व में दिए गए प्रमाणलक्षणों से शाब्दिक–दृष्टि से तो नितान्त भिन्न ही है। वस्तुतः, शाब्दिक–दृष्टि से इसमें न तो 'स्व–पर–प्रकाशत्व' की चर्चा है, न बाधविवर्जित या अविसंवादित्व की, जबकि पूर्व के सभी जैन–आचार्यों ने अपने प्रमाण–लक्षण–निरूपण में इन दोनों की चर्चा अवश्य की है। इसमें 'अपूर्वता' को भी प्रमाण के लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया गया है, जिसकी चर्चा कुछ दिगम्बर जैनाचार्यो ने की है। न्यायावतार में प्रमाण के जो लक्षण निरूपित किये गये हैं, उनमें स्व–पर–प्रकाशत्व और बाधविवर्जित होना – ये दोनों उसके आवश्यक लक्षण बताए गए हैं। न्यायावतार की इस परिभाषा में भी बाधविवर्जित अविसंवादित्व का ही पर्याय है। जैन–परम्परा में यह लक्षण बौद्ध–परम्परा के प्रभाव से गृहीत हुआ है , जिसे अष्टशती आदि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया हैं। इसी प्रकार, मीमांसकों के प्रभाव से अनधिगतार्थक होना या अपूर्व होना भी जैन–प्रमाणलक्षण में सन्निविष्ट हो गया। अकलंक और माणिक्यनन्दी ने इसे भी प्रमाण–लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार, जैन–परम्परा में हेमचन्द्र के पूर्व प्रमाण के चार लक्षण निर्धारित हो चुके थे –

1. स्व–प्रकाशक – 'स्व' की ज्ञानपर्याय का बोध कराने वाला।
2. पर–प्रकाशक – पदार्थ का बोध कराने वाला।

3. बाधविवर्जित या अविसंवादी।

4. अनधिगतार्थक या अपूर्व (सर्वथा नवीन)।

इन चार लक्षणों में से 'अपूर्व' लक्षण का प्रतिपादन माणिक्यनन्दी के पश्चात् दिगम्बर–परम्परा में भी नहीं देखा जाता है। विद्यानन्द ने अकलंक और माणिक्यनन्दी की परम्परा से अलग होकर सिद्धसेन और समन्तभद्र के तीन ही लक्षण ग्रहण किये। श्वेताम्बर–परम्परा में किसी आचार्य ने प्रमाण का 'अपूर्व' लक्षण प्रतिपादित किया हो, ऐसा हमारे ध्यान में नहीं आता है। यद्यपि विद्यानन्द ने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' लक्षण को महत्वपूर्ण नहीं माना, किन्तु उन्होंने 'व्यवसायात्मकता' को आवश्यक समझा। परवर्ती श्वेताम्बर– आचार्यों ने भी विद्यानन्द का ही अनुसरण किया है। अभयदेव, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र – सभी ने प्रमाण–लक्षण–निर्धारण में 'अपूर्व' पद को आवश्यक नहीं माना है।

जैन–परम्परा में हेमचन्द्र तक प्रमाण की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उन्हें पं. सुखलालजी ने चार वर्गों में विभाजित किया है –

1. प्रथम वर्ग में स्व–पर अवभास वाला सिद्धसेन (सिद्धर्षि) और समन्तभद्र का लक्षण आता है, स्मरण रहे कि ये दोनों लक्षण बौद्धों एवं नैयायिकों के दृष्टिकोणों के समन्वय का फल हैं।

2. इस वर्ग में अकलंक और माणिक्यनन्दी की अनधिगत, अविसंवादि और अपूर्व लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं। ये लक्षण स्पष्ट रूप से बौद्ध–मीमांसकों के प्रभाव से आए हैं। ज्ञातव्य है कि न्यायावतार में 'बाधविवर्जित' रूप में अविसंवादित्व का लक्षण आ गया है।

3. तीसरे वर्ग में विद्यानन्द, अभयदेव और वादिदेवसूरि के लक्षण वाली परिभाषाएँ आती हैं, जो वस्तुतः सिद्धसेन (सिद्धर्षि) और समन्तभद्र के लक्षणों का शब्दान्तरण मात्र है और जिनमें अवभास पद के स्थान पर व्यवसाय या निर्णीत पद रख दिया गया है।

4. चतुर्थ वर्ग में आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाण–लक्षण की परिभाषा आती है, जिसमें 'स्व', बाधविवर्जित, अनधिगत या अपूर्व आदि सभी पद हटाकर परिष्कार किया गया है।

यद्यपि यह ठीक है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण–लक्षण–निरूपण में

नयी शब्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्व के जैनाचार्यों के प्रमाण–लक्षणों को पूरी तरह से छोड़ दिया है। यद्यपि इतना अवश्य है कि हेमचन्द्र ने दिगम्बराचार्य विद्यानन्द और श्वेताम्बराचार्य अभयदेव और वादिदेवसूरि का अनुसरण करके अपने प्रमाणलक्षण में अपूर्व पद को स्थान नहीं दिया है। पं. सुखलालजी के शब्दों में – उन्होंने 'स्व' पद, जो सभी पूर्ववर्ती जैनाचार्यों की परिभाषा में था, निकाल दिया। अवभास, व्यवसाय आदि पदों को दाखिल किया11 और उमास्वाति, धर्मकीर्त्ति, भासर्वज्ञ आदि के 'सम्यक्' पद को अपनाकर 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' के रूप में अपना प्रमाणलक्षण प्रस्तुत किया। इस परिभाषा या प्रमाण–लक्षण में सम्यक् पद किसी सीमा तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रयुक्त बाधविवर्जित या अविसंवादि का पर्याय माना जा सकता है, 'अर्थ' शब्द का प्रयोग बौद्धों के विज्ञानवादी–दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए प्रमाण के 'पर' अर्थात् वस्तु के अवबोधक होने का सूचक है, जो जैनों के वस्तुवादी (Realistic) दृष्टिकोण का समर्थक भी है।

पुनः, 'निर्णय' शब्द जहाँ एक ओर अवभास, व्यवसाय आदि का सूचक है, वहीं दूसरी ओर वह प्रकारान्तर से प्रमाण के 'स्वप्रकाशक' होने का भी सूचक है। इस प्रकार, प्रमाण–लक्षण–निरूपण में अनधिगतार्थक या अपूर्वार्थग्राहक होना ही ऐसा लक्षण है, जिसका हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर आचार्यों के समान परित्याग किया है। वस्तुतः, स्मृति को प्रमाण मानने वाले जैनाचार्यों को यह लक्षण आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ। श्वेताम्बर–परम्परा ने तो उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया। दिगम्बर–परम्परा में भी अकलंक और माणिक्यनन्दी के पश्चात् विद्यानन्द ने इसका परित्याग कर दिया। इस प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों के दृष्टिकोणों का सम्मान करते हुए और उनके प्रमाण–लक्षणों को सन्निविष्ट करते हुए प्रमाणमीमांसा में 'प्रमाण' की एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण–लक्षण–निरूपण में 'स्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर स्वयं उन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के चतुर्थ पद की स्वोपज्ञ टीका में दिया है, उन्होंने बताया है कि ज्ञान तो स्व–प्रकाश ही है, किन्तु 'पर' का व्यावर्त्तक नहीं होने से लक्षण में इसका

प्रवेश अनावश्यक है। पं. सुखलालजी के अनुसार, ऐसा करके उन्होंने एक ओर अपने विचार–स्वातन्त्र्य को स्पष्ट किया, वही दूसरी ओर, पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन न करके, 'स्व' पद के प्रयोग करने की उनकी दृष्टि दिखाकर उनके प्रति आदर भी व्यक्त किया, साथ ही, ज्ञान के स्वभावतः स्व–प्रकाशक होने से उन्होंने अपने प्रमाण–लक्षण में 'स्व' पद नहीं रखा।

इसी प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण–लक्षण में 'अधिगत' या 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा ? इसका उत्तर भी प्रमाणमीमांसा में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की चर्चा में मिल जाता है। भारतीय–दर्शन में धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को लेकर दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। एक ओर, न्याय–वैशेषिक और मीमांसकों के प्रभाकर एवं भाट्ट – सम्प्रदाय कुछ सूक्ष्म मतभेदों को छोड़कर सामान्यतया धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर, बौद्ध–परम्परा सामान्य–व्यक्ति (प्रमाता) के ज्ञान में सूक्ष्म काल–भेद का ग्रहण नहीं होने से धारावाहिक ज्ञान को अप्रमाण मानती है, यद्यपि कुमारिल भट्ट की परम्परा भी अपने प्रमाण–लक्षण में अपूर्व पद रखने के कारण सूक्ष्म काल–कला के भान (बोध) को मानकर ही उसमें प्रामाण्य का उत्पादन करती है। इसी प्रकार, बौद्ध–दार्शनिक अर्चट् ने अपने हेतुबिन्दु की टीका में सूक्ष्म–कला के भान के कारण योगियों के धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण माना है।

जहाँ तक जैनों का प्रश्न है, सामान्यतया, कुछ दिगम्बर–आचार्यों ने अपने प्रमाण–लक्षण में 'अपूर्व' पद को स्थान दिया है, अतः उनके अनुसार भी धारावाहिक ज्ञान जब क्षण–भेदादि की स्थिति में विशेष का बोध कराता हो और विशिष्ट प्रमाजनक हो, तभी वह प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत, श्वेताम्बर–परम्परा के आचार्य अपने प्रमाण–लक्षण में 'अपूर्व' पद नहीं रखते हैं और स्मृति के समान धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर–आचार्यों में हेमचन्द्र ने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद क्यों नहीं रखा, इसका उत्तर भी उनकी प्रमाणमीमांसा में मिल जाता है। आचार्य स्वयं ही स्वोपज्ञ–टीका में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उत्तर देते हैं। प्रतिपक्ष का कथन है कि धारावाहिक स्मृति आदि

ज्ञान अधिगतार्थक पूर्वार्थक हैं और इन्हें सामान्यतया अप्रमाण समझा जाता है। यदि इन्हें अप्रमाण मानते हो, तो (तुम्हारा) सम्यगर्थनिर्णयरूप लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है ? प्रतिपक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा था कि यदि धारावाहिक ज्ञान और स्मृति प्रमाण हैं, तो फिर प्रमाण के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद निरर्थक हो जाता है। पं. सुखलालजी का कथन है कि श्वेताम्बर आचार्यो में हेमचन्द्र की खास विशेषता यह है कि उन्होंने गृहीतग्राही और ग्रहीष्यमाणग्राही में समत्व दिखाकर सभी धारावाहिक ज्ञानों में प्रामाण्य का जो समर्थन किया है, वह विशिष्ट है। यही कारण है कि हेमचन्द्र ने अपने प्रमाण–लक्षण में अपूर्व या अनधिगत पद की उद्भावना नहीं की है।

वस्तुतः, हेमचन्द्र की प्रमाण–लक्षण की अवधारणा हमें पाश्चात्य–तर्कशास्त्र के सत्य के संवादितासिद्धान्त का स्मरण करा देती है। पाश्चात्य–तर्कशास्त्र में सत्यता–निर्धारण के तीन सिद्धान्त हैं – 1. संवादिता–सिद्धान्त, 2. संगति–सिद्धान्त और 3. उपयोगितावादी या अर्थक्रियावादी–सिद्धान्त। उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों में हेमचन्द्र का सिद्धान्त अपने प्रमाण–लक्षण में अविसंवादित्व और अपूर्वता के लक्षण नहीं होने से तथा प्रमाण को सम्यगर्थनिर्णयः के रूप में परिभाषित करने के कारण सत्य के संवादिता–सिद्धान्त के निकट है। इस प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण–लक्षण–निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों के मतों को समाहित करते हुए भी एक विशेषता प्रदान की है। प्रमाण–लक्षण–निरूपण में यही उनका वैशिष्ट्य है। इसी प्रकार, प्रमाण–लक्षण–निरूपण में जैनों का दूसरा वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने इसके माध्यम से बौद्ध–नैयायिक और मीमांसक–दर्शनों के मध्य एक समन्वय का सूत्र प्रस्तुत किया है। प्रमाण–लक्षण–निरूपण के साथ प्रमाण के प्रकारों को लेकर भी जैन–दार्शनिकों का एक वैशिष्ट्य है। प्रथम तो, जैन–दार्शनिकों ने तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष– ऐसे दो प्रमाणों की ही चर्चा की, किन्तु कालान्तर में उन्होंने अपनी प्रमाण–चर्चा में विकास भी किया। जहाँ आगमों में नन्दीसूत्र को छोड़कर शेष आगमों में तथा तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में प्रत्यक्ष को एक ही प्रकार का माना गया था और

उसे आत्मिक–प्रत्यक्ष के रूप में ही व्याख्यायित किया गया था। वहाँ कालान्तर में अन्य दर्शनों के प्रभाव से प्रत्यक्ष को भी सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष और पारमार्थिक–प्रत्यक्ष – ऐसे दो विभागों में बाँटकर मतिज्ञान के ऐन्द्रिक–बोध को परोक्ष ज्ञान के स्थान पर प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत मान लिया गया। मेरी दृष्टि में जैनों को यह इसलिए करना पड़ा कि अन्य सभी दार्शनिक–परम्पराएँ ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष ही मान रही थीं। उनका तो सूत्रवाक्य यही था– 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षं उत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'। यहाँ जैनों ने नैयायिकों के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया और बौद्धों के निर्विकल्पात्मक–ज्ञान को प्रत्यक्ष–प्रमाण मानने से इंकार किया और कहा कि जो ज्ञान निर्विकल्प होगा, वह प्रमाणभूत नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान को प्रमाणभूत होने के लिए उसे निर्णयात्मक या व्यवसायात्मक होना चाहिए। निर्विकल्पात्मक–ज्ञान निर्णयात्मक नहीं होने से प्रमाणभूत नहीं हो सकता। दूसरे, उन्होंने अपने परोक्ष–प्रमाण में से मतिज्ञान को निकालकर उसके ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष वाले अंश को सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष के अन्तर्गत वर्गीकृत कर उसे भी प्रमाणरूप मान लिया। इसके साथ ही, परोक्ष–ज्ञान के रूप में स्वीकृत अनुमान और आगम को भी प्रमाणरूप माना। न केवल इतना ही, उन्होंने परोक्ष–ज्ञान को प्रमाणभूत मानने वाले नैयायिकों के उपमान को, मीमांसकों के 'अर्थापत्ति' को और वेदान्तियों के अभाव को प्रमाणरूप नहीं मानकर उनके स्थान पर तीन नए परोक्ष–प्रमाण स्थापित किए – 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञा और 3. ऊह या तर्क। इस प्रकार, प्रमाण–संख्या भाट्टमीमांसकों के समान छह रखकर भी प्रमाण के क्षेत्र में एक नयी स्थापना की। आगे हम इन्हीं छह प्रमाणों की विस्तार से चर्चा करेंगे।

प्रत्यक्ष–प्रमाण

जैनदर्शन में प्राचीनकाल में जिन 3 और परवर्त्तीकाल में जिन 6 प्रमाणों का उल्लेख हुआ है, उनमें प्रत्यक्ष–प्रमाण अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसे अन्य सभी भारतीय–दर्शनों ने स्वीकृत किया है, तथा इसके अभाव में अन्य प्रमाण भी कार्यकारी नहीं होते हैं। 'प्रत्यक्ष' शब्द मूलतः दो शब्दों को मिलाकर बना है – प्रति + अक्ष। जैन–परम्परा में 'अक्ष' शब्द

का एक अति व्यापक अर्थ लिया गया है। सामान्यतया, 'अक्ष' शब्द का अर्थ आँख या चक्षु–इन्द्रिय होता है, किन्तु भारतीय–दर्शन की अन्य परम्पराओं में भी इसका क्वचित् व्यापक अर्थ करते हुए इसे सभी इन्द्रियों का वाचक माना गया है। जैन–परम्परा में 'अक्ष' शब्द की व्युतपत्ति अ + क्ष से करते हुए यह भी कहा गया है कि जिसका कभी नाश या क्षय नहीं होता, वह अक्ष अर्थात् आत्मा है और ऐसा अक्षय तत्त्व आत्मा है, अतः आत्मा के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही प्रत्यक्ष है, किन्तु यह अर्थ मूलतः आत्मिक–प्रत्यक्ष अर्थात् अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के सन्दर्भ में ही लागू होता है। तत्त्वार्थसूत्र में प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है– "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्", किन्तु यह परिभाषा मतिज्ञान के अन्तर्गत होने वाले ऐन्द्रिक एवं सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष, जो मतिज्ञान का ही एक प्रकार है, उस पर ही लागू होती है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार, सां०यावहारिक–प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है और इसका विषय पदार्थ या मानसिक–संप्रत्यय होते हैं। यहाँ 'अर्थ' शब्द पदार्थ (वस्तु) एवं उसका मानसिक–संप्रत्यय (Meaning) – दोनों से है, अतः उसका विषय बाह्यार्थ और मानसिक–अवधारणाएं – दोनों ही हैं, जिन्हें तत्त्वार्थसूत्र में मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध (मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ता ऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तर – तत्त्वार्थ – 1/13) आदि के रूप में अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु जब प्रत्यक्ष में इन्द्रियानुभूति के अतिरिक्त मानसिक–संप्रत्यय भी जुड़ जाते हैं, तो सां व्यावहारिक–प्रत्यक्ष को केवल ऐन्द्रिक–संवेदनों से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता है, वह इन्द्रियानुभूति के रूप में प्रत्यक्ष और मानसिक– संप्रत्ययों के रूप में परोक्ष होता है, यही कारण है कि जैनाचार्यों ने उसे विशुद्ध–प्रत्यक्ष नहीं कहा, इसीलिए परवर्त्ती काल में जैन–आचार्यों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया। प्रमाणनयतत्त्वालोक में 'स्पष्टं प्रत्यक्षम' (2/2) कहकर स्पष्ट ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना था। यही कारण है कि कालान्तर में प्रमाणमीमांसा में आचार्य हेमचन्द्र ने भी 'विशदः प्रत्यक्षम्' कहकर इसे स्पष्ट किया था और विशद–पद की व्याख्या करते हुए कहा गया– "प्रमाणान्तरान पेक्षेदन्तपा प्रतिभासो वा वैशद्यम्", अर्थात् जिसको किसी

अन्य प्रमाण की अपेक्षा न हो – ऐसे ज्ञान को विशद कहा गया है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक में भी कहा गया था कि अनुमान आदि की अपेक्षा भी विशेष रूप से ज्ञेय विषय का प्रकाशन करने वाला (ज्ञान) स्पष्ट होता है। इस प्रकार, स्पष्ट या विशद शब्दों की परिभाषा करते हुए यह कहा गया है कि यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है – सांव्यावहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक–प्रत्यक्ष का सम्बन्ध आत्मिक–ज्ञान से है और सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष का सम्बन्ध ऐन्द्रिक–ज्ञान से है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रमाणनयतत्त्वालोक में यह कहा भी गया है कि सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है – इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला और मन के माध्यम से होने वाला। इस प्रकार, जैन आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो प्रकार करते हुए इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले ज्ञान को सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष में और आत्मा के द्वारा होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक–प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया है और पारमार्थिक–प्रत्यक्ष के अन्तर्गत अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को ही माना है। इन तीनों ज्ञानों की चर्चा ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत पूर्व में की जा चुकी है, यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन–दार्शनिक न्यायदर्शन के इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष–प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष की निम्न परिभाषा दी गई है –

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमन्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"

सामान्यतया, न्यायदर्शन इन्द्रियों का अपने विषय से सम्पर्क होने पर और अन्य रूप से व्यपदेश्य न होने वाले, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक–ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना है, किन्तु जैन–दार्शनिकों ने उसकी प्रत्यक्ष की इस अवधारणा का खण्डन किया है। जैन–दार्शनिकों के अनुसार, इन्द्रियों का अपने विषय से सम्पर्क या सन्निकर्ष ज्ञान का निमित्त–कारण तो हो सकता है, किन्तु वह ज्ञानरूप नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ और उनका अर्थ से सन्निकर्ष या संयोग – दोनों ही जड़ होते हैं। दो जड़-तत्त्वों के सन्निकर्ष अर्थात् संयोग से ज्ञानरूप चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए जैन– दार्शनिकों का मानना है कि इन्द्रिय और उसके विषयों के संयोग

मात्र से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान के लिए चेतना या उपयोग अर्थात् उस विषय के प्रति चेतना की सजगता का होना आवश्यक है।

इसी प्रकार, जैन–दार्शनिक बौद्धों के समान निर्विकल्पता को भी प्रत्यक्ष का आधार नहीं मानते हैं। क्योंकि प्रमाण में निश्चयात्मकता होती है और निर्विकल्पक–ज्ञान में निश्चयात्मकता नहीं होती है, अतः निर्विकल्प अनुभूति भी प्रमाण नहीं हो सकती, इसलिए जैन–दार्शनिक ज्ञान और दर्शन में अन्तर करते हैं और कहते हैं कि मात्र ज्ञान ही प्रमाणरूप होता है, दर्शन नहीं। उनके अनुसार, बौद्धों का निर्विकल्प–प्रत्यक्ष वस्तुतः दर्शन ही है। जैन–दार्शनिक नैयायिकों के समान व्यवसायात्मकता को प्रमाणभूत ज्ञान का आवश्यक तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार, प्रत्यक्ष के संबंध में जैन–दार्शनिकों का बौद्धों से भी मतभेद है। दूसरे, जैन–दार्शनिक प्रत्यक्ष के विषय बाह्यार्थ या वस्तुरूप विषय की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यदि बाह्यार्थ नही होंगे, तो उनके अभाव में प्रत्यक्ष ज्ञान की सम्भावना भी नहीं होगी। क्योंकि मानसिक–संप्रत्यय भी बाह्यार्थ के निमित्त से ही बनते हैं, अतः प्रत्यक्ष के विषय को लेकर जैनों का बौद्धों के विज्ञानवाद से भी मतभेद है। दूसरे, उनकी विशेषता यह है कि वे बाह्यार्थ के संवेदन के साथ–साथ मानसिक–संवेदनों को भी प्रत्यक्ष का विषय मानते हैं और इसीलिए वे कहते हैं कि भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, प्रत्यक्षाभास होता है। इस प्रकार, जैन–दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष के सन्दर्भ में जो मत प्रस्तुत किया है, वह नैयायिकों और बौद्धों से भिन्न है। प्रत्यक्ष के संबंध में जैनों कि जो अवधारणा है, वह बौद्धदर्शन और न्यायदर्शन के मध्य समन्वय स्थापित करती हुई प्रतीत होती है। उनके अनुसार, प्रत्यक्ष–इन्द्रियों और मन के संयोग से तथा बाह्यार्थ के निमित्त से जो ऐन्द्रिक या मानसिक–संवेदना (ज्ञान) उत्पन्न होती है, वही प्रत्यक्ष या सांव्यावहारिक है। पारमार्थिक–प्रत्यक्ष अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान–रूप होता है, जिनकी चर्चा हम ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राचीनकाल में मन, इन्द्रियाँ, प्रकाश और परोपदेश के निमित्त से होने वाले इस सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष को परोक्ष भी कहा गया है।

मतिज्ञान के समान ही सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष की भी ज्ञान के स्तरों की

अपेक्षा से चार अवस्थाएँ मानी गई हैं– 1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय (अपाय), 4. धारणा। आगे हम इनके स्वरूप की चर्चा करेंगे। ज्ञातव्य है कि अवग्रह आदि सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष के प्रकार न होकर उसके स्तर हैं, क्योंकि सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष भी अपनी पूर्णता पर इन स्तरों से होकर ही गुजरता है।

अवग्रह – ज्ञेय वस्तु या विषय के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने के बाद जो अर्थ का सामान्य अवबोध होता है, उसे अवग्रह कहते हैं। आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों और घटादि पदार्थों का सम्पर्क होते ही जो प्रथम दर्शन होता है यह दर्शन सामान्य को ग्रहण करता है। पीछे वही दर्शन वस्तु के स्वरूप आदि का निर्णय होने पर अवग्रह या अवबोध–ज्ञानरूप परिणत हो जाता है। अवग्रह के पूर्व दर्शन होता है, किन्तु वह दर्शन नहीं है। वह दर्शन के ज्ञानरूप में परिणत होने की प्रथम कड़ी है। अवग्रह के भी दो भेद हैं – (1) व्यंजनावग्रह और (2) अर्थावग्रह। अस्पष्ट ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं और स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने एक दृष्टान्त के द्वारा दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है– जैसे मिट्टी के नये सकोरे पर जल के दो–चार छींटे देने से वह गीला नहीं होता, किन्तु बार–बार पानी के छींटे देते रहने पर वह कोरा सकोरा धीरे–धीरे गीला हो जाता है, इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियों में आया हुआ शब्द अथवा गन्ध आदि दो–तीन क्षण तक स्पष्ट ही नहीं होते, किन्तु बार–बार ग्रहण करने पर स्पष्ट हो जाते हैं, अतः स्पष्ट ग्रहण से पहले ज्ञेय विषय और ज्ञानेन्द्रिय का संयोग मात्र व्यंजनावग्रह होता है। वह व्यंजनावग्रह आगे चलकर अर्थावग्रह को जन्म देता है, किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि जैसे अवग्रहरूपी ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, वैसे ही अर्थावग्रह भी व्यंजनावग्रहपूर्वक ही होता है, क्योंकि अर्थावग्रह तो पांचों इन्द्रियों से और मन से होता है, किन्तु व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों से ही होता है। जो इन्द्रियाँ अपने विषय को उससे सम्पर्क करके जानती हैं, उन्हीं से व्यंजनावग्रह होता है। ऐसी इन्द्रियाँ केवल चार हैं – स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र। ये चारों इन्द्रियाँ अपने विषय से सम्बन्ध होने पर ही स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द को जानती

हैं, किन्तु चक्षु और मन अपने विषय से दूर रहकर ही उसे जानते हैं, तभी तो जो वस्तु आँख के अत्यन्त नजदीक अथवा अति दूर होती है, उसे वह नहीं जानती, जैसे – आँख में लगा हुआ अंजन। इसी से जैन–दर्शन में चक्षु को अप्राप्यकारी माना है। इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की चर्चा आगे विस्तार से करेंगे।

ईहा – अवग्रह में इन्द्रियों का अपने विषय से सम्पर्क होने पर जो सामान्य अवबोध होता है, वह अवग्रह कहा जाता है, किन्तु यही अवग्रह जब सामान्य ज्ञान नहीं होकर वस्तु या विषय को विशेषरूप से जानने का प्रयत्न करता है, तो वह ईहा बन जाता है, अतः अवग्रह के पश्चात् जब ज्ञेय विषय को विशेष रूप से जानने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह ईहा कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, अनुभूति के विषय को विशेषरूप से जानने की जिज्ञासा को ही ईहा कहा जाता है। इसी जिज्ञासा में ईहा का जन्म हुआ है, जैसे – कोई व्यक्ति गहरी नींद में सोया हुआ हो और उसे कोई व्यक्ति आवाज देवे – प्रथम स्थिति में वह शब्द–ध्वनि उसके कान में जाती है, किन्तु उसे इसका कोई बोध नहीं होता है, वह व्यंजनात्मक–अवग्रह की स्थिति होती है। यहाँ इन्द्रियों का अपने विषय से सम्पर्क तो होता है, किन्तु फिर भी व्यक्ति को चेतन–उपयोग उस ओर नहीं होने के कारण बोध का अभाव होता है। जैसे सूखें सकोरे में डाली हुई पानी की बून्दें सकोरे का संस्पर्श करते हुए भी अभिव्यक्त नहीं होती हैं, इसी प्रकार इन्द्रिय का अपने विषय से संम्पर्क होने पर भी अनभिव्यक्त सम्पर्करूप बोध होता है, यही व्यंजनावग्रह है। इसके पश्चात्, जब चेतना में इस बात का बोध हो कि कोई मुझे आवाज दे रहा है, तो वह अर्थावग्रह कहा जाता है, किन्तु ईहा इससे भिन्न होती है। प्रथमतया, उस आवाज को जानने की जो जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जैसे कि वह किसकी आवाज थी, तो यह जिज्ञासा ही ईहा का कारण बनती है, किन्तु ईहा मात्र जिज्ञासारूप बोध नहीं होती है। वह किसी सीमा तक निर्णय की ओर अभिमुख भी होती है, अर्थात् इसे किसी स्त्री की आवाज होनी चाहिए, क्योंकि यह मधुर थी – ऐसा निर्णयाभिमुख बोध ईहा कहा जाता है। ईहा संशय, विपर्यय और अज्ञान – इन तीनों से भिन्न होती है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ज्ञान का एक अंग

होती है, अतः ऐन्द्रिक या मानसिक–विषय के संबंध में जो निर्णयाभिमुख ज्ञान होता है, उसे ही ईहा कहा जाता है। ईहा संशय से इस अर्थ से भिन्न होती है कि संशय में उभयकोटियों के मध्य व्यक्ति कोई निर्णय नहीं कर पाता। ईहा भी निर्णय तो नहीं करती, किन्तु निर्णयाभिमुख अवश्य होती है। अतः, ईहा निश्चयात्मक–बोध तो नहीं है, किन्तु व्यक्ति को निश्चय की ओर अभिमुख अवश्य करती है।

अपाय – ईहा के द्वारा जो निर्णयाभिमुखता प्राप्त होती है, उसे निर्णीत कर देना ही अवाय या अपाय है। वस्तुतः, वस्तु के विशेष धर्मों का ज्ञान होना *अपाय है। अपाय निर्णयात्मक–ज्ञान है, वह ज्ञेय वस्तु को* यथार्थ रूप में जानता है। जैसे आकाश में उड़ती हुई सफेद वस्तु को देखने पर, यह पताका है, या बगुलों की पंक्ति है– ऐसी जिज्ञासा होती है, फिर उस उड़ती हुई वस्तु को आगे गतिशील देखकर, इसे बगुलों की पंक्ति होना चाहिए– इस रूप में ईहा होती है। जब यह ईहा यह निर्णय कर लेती है कि यह बगुलों की पंक्ति है, तो यह अपाय कहलाती है। अपाय निर्णयात्मक–ज्ञान होता है, फिर उसके संस्कार चेतना में स्थिर नहीं रहते हैं, वह क्षणजीवी होता है, उसके उन संस्कारों को भविष्य में स्थिर रखने के लिए चेतना का जो प्रयास होता है, उसे जैन–दार्शनिकों ने 'धारणा' नाम दिया है।

धारणा – मन और इन्द्रियों के अपने विषय से संस्पर्श होने पर अवग्रह होता है। अवग्रह से ईहा निर्णयाभिमुख होती है। ईहा से हम निर्णय तक पहुंचते हैं। यह निर्णय अपाय होता है। जब यह धारणा हमारी चेतना का एक अवियोग्य अंग बन जाती है और भविष्य में जब भी हम चाहे उन संस्कारों को जगा सकते हैं, तो वह धारणा बन जाती है। अपाय के द्वारा निर्णीत विषय को भविष्य के हेतु चेतना में धारित करने की प्रक्रिया ही धारणा है। इस प्रकार अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा क्रम से होते हैं। पं. कैलाशचन्द्रजी लिखते हैं कि ये अवग्रह आदि चारों ज्ञान इसी क्रम से होते हैं, इनकी उत्पत्ति में कोई व्यतिक्रम नहीं होता, क्योंकि अदृष्ट का अवग्रह नहीं होता, अनवगृहीत सन्देह नहीं होता, सन्देह के हुए बिना ईहा नहीं होती, ईहा के बिना अवाय नहीं होता और अवाय के बिना धारणा नहीं

होती, किन्तु जैसे कमल के सौ पत्तों को ऊपर–नीचे रखकर सुई से छेदने पर ऐसी प्रतीति होती है कि सारे पत्ते एक ही समय में छेदे गये, यद्यपि वहाँ कालभेद है, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमारी दृष्टि में नहीं आता, वैसे ही अभ्यस्त विषय में यद्यपि केवल अवाय–ज्ञान की ही प्रतीति होती है, फिर भी उससे पहले अवग्रह और ईहा–ज्ञान बड़ी द्रुत गति से हो जाते हैं। इससे उनकी प्रतीति नहीं होती।

यह भी कोई नियम नहीं है कि इनमें से पहला ज्ञान होने पर आगे के सभी ज्ञान होते ही हैं। कभी केवल अवग्रह ही होकर रह जाता है, कभी अवग्रह के पश्चात् संशय होकर ही रह जाता है, कभी अवग्रह, संशय और ईहा ही होते हैं, कभी–कभी अवग्रह, संशय, ईहा और अवाय–ज्ञान ही होते हैं, और कभी धारणा तक होते हैं। ये सभी ज्ञान एक चैतन्य के ही विशेष हैं, किन्तु ये सब क्रम से होते हैं तथा इनका विषय भी एक–दूसरे से अपूर्व है, अतः ये सब आपस में भिन्न–भिन्न माने जाते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की अनुभूति को उस स्थिति में रखना, जिसे हम चाहे जब चेतना के स्तर पर लाकर कोई निर्णय ले सकें, तो वह धारणा हमारे वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष का ही एक रूप होती है। इसी भूतकालीन स्मृति से वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष की तुलना करके सादृश्य, वैदृश्य का निर्णय लेना प्रत्यभिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के तत्त्व मुख्य रूप से हमारे निर्णय में सहायक होते हैं, अतः प्रत्यक्ष–प्रमाण के ही अंग माने गए हैं। दूसरे, उनसे अनुमान हेतु व्याप्ति–सम्बन्ध का बोध होता है, अतः वे अनुमान के लिए भी अपरिहार्य हैं।

'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ– 'इन्द्रिय' शब्द के अर्थ की विशद विवेचना न करते हुए यहाँ हम केवल यही कहेंगे कि जिन–जिन साधनों की सहायता से जीवात्मा विषयों की ओर अभिमुख होता है, अथवा विषयों के उपभोग में समर्थ होता है, वे इन्द्रियाँ हैं। इस अर्थ को लेकर कहीं कोई विवाद नहीं पाया जाता है।

इन्द्रियों की संख्या–

(अ) जैन–दृष्टिकोण – जैन–दर्शन में इन्द्रियाँ पाँच मानी गई हैं– 1. श्रोत्र, 2. चक्षु, 3. घ्राण, 4. रसना और 5. स्पर्शन (त्वचा)। जैन–दर्शन में मन

को नोइन्द्रिय (Quasi sense organ) कहा जाता है। जैन–दर्शन में कर्मेन्द्रियों का विचार उपलब्ध नहीं है, फिर भी पाँच कर्मेन्द्रियों में से तीन तो उसकी दस बल की अवधारणा में से वाक्बल, शरीरबल और श्वासोच्छ्वास–बल में समाविष्ट हो जाती हैं। यद्यपि जैनों ने जननेन्द्रिय और गुदा को पृथक् से इन्द्रिय तो नहीं कहा है, फिर भी वे शारीरिक–शक्ति के रूप में शरीर–बल में समावष्टि हैं।

(ब) बौद्ध–दृष्टिकोण– बौद्ध–ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग में इन्द्रियों की संख्या 22 वर्णित है। बौद्ध–विचारधारा उक्त पाँच इन्द्रियों एवं मन के अतिरिक्त पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सुख–दुःख, शुभ–अशुभ मनोभावों को भी इन्द्रियों में मान लेती है।

(स) गीता का दृष्टिकोण– गीता में भी जैन–दर्शन के समान पाँच इन्द्रियों एवं छठवें मन को स्वीकार किया गया है। शांकर–वेदान्त एवं सांख्य–दर्शन में इन्द्रियों की संख्या 11 मानी गई है – 5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ और 1 अन्तःकरण।

जैन–दर्शन में इन्द्रिय–स्वरूप–

जैन–दर्शन में उक्त पाँचों इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं– 1. द्रव्येन्द्रिय, 2. भावेन्द्रिय। इन्द्रियों का बाह्य संरचनात्मक–पक्ष (Structural aspect) द्रव्येन्द्रिय है और उनका आन्तरिक क्रियात्मक–पक्ष (Functioual aspect) भावेन्द्रिय है। इनमें से प्रत्येक में पुनः उपविभाग किए गए हैं, जैसा कि निम्न सारणी से स्पष्ट है :

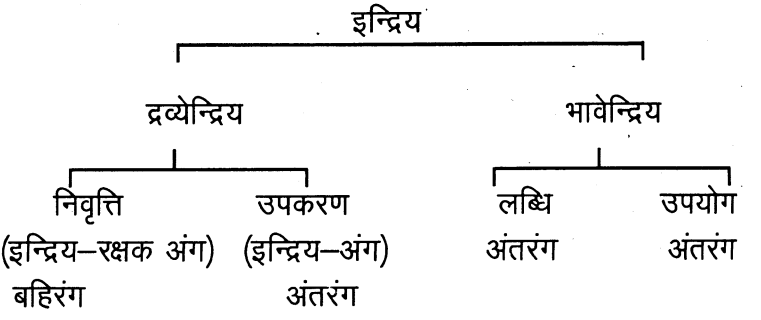

जैन–दर्शन में इन्द्रियों के ये दो विभाग द्रव्य–इन्द्रिय और भाव–इन्द्रिय

के रूप में वर्णित हैं। द्रव्य–इन्द्रिय इन्द्रिय की शारीरिक–संरचना है और भाव–इन्द्रिय ऐन्द्रिक–क्षमता की परिचायक है। जैन–आचार्यों ने द्रव्य–इन्द्रिय के उपकरण और निवृत्ति– ऐसे दो विभाग किये हैं। इन्द्रिय का कार्य करने वाला अंग उपकरण और इन्द्रियरक्षक अंग निवृत्ति कहा जाता है। इन दोनों के भी अर्न्तरंग और बैयरंग–ऐसे दो–दो विभाग किये गये हैं। पुनः, भावेन्द्रिय को दो भागों में बाटा गया है – लब्धि और उपयोग। प्रत्येक इन्द्रिय की जो ज्ञान–क्षमता है, वह लब्धि कही जाती है और उस इन्द्रिय की अपने विषय के प्रति जो संचेतना होती है, उसे उपयोग कहते हैं। जैन–दर्शन में इन्द्रियों के विषय– (1) श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है– जीव–शब्द, अजीव–शब्द और मिश्र–शब्द। कुछ विचारक 7 प्रकार के शब्द भी मानते हैं। (2) चक्षु–इन्द्रिय का विषय रूप–संवेदना है। रूप पाँच प्रकार का है– काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत, शेष रंग इन्हीं के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। (3) घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध–संवेदना है। गन्ध दो प्रकार की है– 1. सुगन्ध और 2. दुर्गन्ध। (4) रसना का विषय रसास्वादन है। रस पाँच हैं – कटु, अम्ल, लवण, तिक्त और मधुर। (5) स्पर्शन–इन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभूति है। स्पर्श आठ प्रकार का है– उष्ण, शीत, रूक्ष, चिकना, हल्का, भारी, कर्कश, कोमल। इस प्रकार, श्रोत्रेन्द्रिय के 3, चक्षुरिन्द्रिय के 5, घ्राणेन्द्रिय के 2, रसना के 5 और स्पर्शेन्द्रिय के 8, कुल मिलाकर पाँचों इन्द्रियों के तेईस विषय हैं।

इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व का स्वरूप

जैनदर्शन के अनुसार, सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष में निमित्त–कारण मन और इन्द्रियां हैं, अतः यहाँ मूल प्रश्न यह है कि इन्द्रियां अपने विषय का ज्ञान किस प्रकार से करती हैं। भारतीय–दर्शनों में जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, वह स्पष्ट रूप से यह मानता है कि इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों का संस्पर्श या सन्निकर्ष करके ही उन्हें जानती हैं। यह सिद्धान्त इन्द्रियार्थ–सन्निकर्षवाद या इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। यह बात तो सामान्यतया सभी स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों को ग्रहण करके ही उन्हें जानती हैं, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि क्या इन्द्रियों का अपने विषयों से निकटस्थ रूप में

संस्पर्श होता है, या वे दूर से ही उन्हें ग्रहण कर लेती हैं। जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, वह यह मानता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से वास्तविक रूप में संस्पर्श या सन्निकर्ष होता है और तभी वे उसे जानती हैं। दूसरे शब्दों में, पाँचों इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों से यथार्थ सम्पर्क स्थापित करके अर्थात् उनका संस्पर्श करके ही उन्हें जानती हैं, जबकि जैन और बौद्ध–दर्शन यह मानते हैं कि कुछ इन्द्रियाँ तो अपने विषयों का संस्पर्श करके ही उन्हें जानती हैं, किन्तु कुछ इन्द्रियाँ ऐसी भी हैं, जो दूर से ही अपने विषयों का ग्रहण कर लेती हैं, उनका वास्तविक रूप से संस्पर्श नहीं करती हैं। इसके साथ ही, भारतीय–दार्शनिकों में विशेष रूप से जैन और बौद्ध–दार्शनिकों ने यहाँ यह प्रश्न भी उठाया कि सम्पर्क–स्थापन, संस्पर्शन या सन्निकर्ष की इस प्रक्रिया में विषय इन्द्रियों की ओर आकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं या इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करती हैं, या उनका संस्पर्श करती हैं ? जहाँ तक न्यायदर्शन की मान्यता है, तो कुछ स्थितियों में विषय इन्द्रियों के सन्निकट आकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं, जैसे– गन्ध और कुछ स्थितियों में इन्द्रियाँ भी उन विषयों के सन्निकट जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करती हैं, जैसे – चक्षुरिन्द्रिय।

बस, यहीं से इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर भारतीय दार्शनिक–चिन्तन में विवाद का प्रारम्भ होता है। प्राप्यकारित्व वह सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि इन्द्रियाँ अपने विषय का वास्तविक रूप से संस्पर्श करके या उससे सम्पर्क स्थापित करके सन्निकर्ष के माध्यम से उसे ग्रहण करती हैं, जबकि इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व वह सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि कुछ इन्द्रियाँ ऐसी भी हैं, जो अपने विषयों से दूरस्थ रहकर ही उनका ग्रहण कर लेती हैं, उनमें वास्तविक रूप से संस्पर्श, सम्पर्क या सन्निकर्ष नहीं होता है।

जैन–दर्शन में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की अवधारणा

भारतीय–दर्शनों में न्यायदर्शन पाँचों इन्द्रियों और मन को प्राप्यकारी मानता है, जबकि बौद्ध–दर्शन स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय को

प्राप्यकारी मानता है और श्रवणेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है, अर्थात् श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय दूर से ही अपने विषय का ग्रहण कर लेती हैं। उनका अपने विषयों से वास्तविक संस्पर्श या सन्निकर्ष नहीं होता है। जहाँ तक जैन–दर्शन का प्रश्न है, वह स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय – इन चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय और मन को अप्राप्यकारी मानता है। जैन–दर्शन के अनुसार, चक्षुरिन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी हैं, क्योंकि ये दोनों अपने विषयों का संस्पर्श करके उन्हें ग्रहण नहीं करते हैं, अपितु दूर से ही अपने विषयों को जान लेते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर जैनदर्शन का न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन–दोनों से ही मतभेद है। जहाँ न्यायदर्शन पाँचों ही इन्द्रियों को नियम से प्राप्यकारी मानता है, वहाँ जैनदर्शन चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। इसी सन्दर्भ में जब हम बौद्ध–दर्शन से जैन–दर्शन की तुलना करते हैं, तो यह पाते हैं कि जहाँ बौद्धदर्शन श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय–दोनों को अप्राप्यकारी मानता है, वहाँ जैनदर्शन श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानता है और मात्र चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। पुनः, इस प्रश्न को लेकर भी जैन–दर्शन का न्याय–दर्शन से दूसरा मतभेद यह भी है कि न्यायदर्शन यह मानता है कि चक्षुरिन्द्रिय के विषय स्वयं आकर चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श नहीं करते, अपितु चक्षुरिन्द्रिय से तेजोरश्मियाँ निकलकर उनसे संस्पर्श करती हैं, जबकि जैनदर्शन का कहना है कि कोई भी इन्द्रिय अपने स्वक्षेत्र से बाहर जाकर विषय–संस्पर्श नहीं करती है, अपितु जो विषय इन्द्रियों के संस्पर्श–क्षेत्र में आते हैं, उन्हें ही जानती है और ऐसी इन्द्रियाँ ही प्राप्यकारी कही जा सकती हैं, जबकि जो इन्द्रियाँ अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए भी दूरस्थ विषयों को ग्रहण कर लेती हैं, वे अप्राप्यकारी कहलाती हैं। जैनदर्शन के अनुसार; स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द ऐसे विषय हैं, जिनका ज्ञान उनकी ग्राहक चारों इन्द्रियाँ संस्पर्श करके करती हैं, अतः वे प्राप्यकारी कही जाती हैं। इसके विपरीत, चक्षुरिन्द्रिय दूर से ही अपने विषय का ग्रहण कर लेती है, अतः वह अप्राप्यकारी कही जाती है।

जैनदर्शन के अनुसार, चक्षुरिन्द्रिय के विषय न तो स्वयं चक्षुरिन्द्रिय से संस्पर्श करते हैं और न चक्षु अपने स्वक्षेत्र से बाहर जाकर उनका संस्पर्श करती हैं। वस्तुतः, चक्षुरिन्द्रिय में ऐसी असाधारण सामर्थ्य है कि वह बिना संस्पर्श किये अपने विषयों को जान लेती हैं, इसलिए जैनदर्शन पाँचों इन्द्रियों में से चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। परवर्ती जैन आचार्यों (६ वीं से १८ वीं शती) ने अपनी मान्यता के समर्थन में बौद्धों और नैयायिकों की तत्सम्बन्धी अवधारणाओं की समीक्षा भी की है।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र मूल (ई. सन् ८–३ री शती) में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर कोई चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु उसी के समकालिक या किंचित् पूर्ववर्ती प्रज्ञापनासूत्र (ई. सन् प्रथम–द्वितीय शती) नामक उपांग के इन्द्रियद्वार में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा सर्वप्रथम उपलब्ध होती है। दिगम्बर–परम्परा के ग्रन्थों में भी तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि (लगभग पाँचवीं शती) में सर्वप्रथम यह चर्चा मिलती है। प्रज्ञापनासूत्र के इन्द्रिय–पद में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि श्रवणेन्द्रिय स्पृष्ट अर्थात् संस्पर्शित शब्दों को सुनती है या अस्पृष्ट (अस्पर्शित) शब्दों को सुनती है ? उसके उत्तर में कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दों को सुनती है, किन्तु जब चक्षुरिन्द्रिय के सम्बन्ध में यही प्रश्न पूछा गया कि चक्षुरिन्द्रिय स्पृष्ट रूप को देखती है या अस्पृष्ट रूप कों देखती है, तो उसके उत्तर में कहा गया है कि चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है, स्पृष्ट रूप को नहीं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व और प्राप्यकारित्व की चर्चा के मूलबीज जैनदर्शन में कम–से–कम प्रज्ञापनासूत्र के काल से अर्थात् ईसा की प्रथम–द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर–परम्परा में सर्वार्थसिद्धि टीका में प्रज्ञापना के समरूप आगम–वचनों को उद्धृत करते हुए चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता और अन्य इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सिद्ध की गई है। प्रज्ञापना के अतिरिक्त श्वेताम्बर–परम्परा के अन्य दार्शनिक ग्रन्थों, यथा – प्रमाणनयतत्त्वालोक, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादरत्नाकर आदि में तथा दिगम्बर–परम्परा के अनेक ग्रन्थों, यथा–

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, पंचसंग्रह (प्राकृत), धवला, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि में भी यह चर्चा मिलती है। इससे यह फलित होता है कि जैन–दर्शन में यह चर्चा ईसा की प्रथम शती से लेकर ग्यारहवीं–बारहवीं शती तक पूरे जोर–शोर से चलती रही है। जहाँ प्रज्ञापनासूत्र, पंचसग्रह (प्राकृत) आदि में मात्र इतना ही कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय– ये चार इन्द्रियाँ अपने–अपने स्पर्शित विषयों का ही अनुभव करती हैं, जबकि चक्षुरिन्द्रिय अस्पर्शित रूप को देखती है, वहाँ परवर्तीकाल के जैन–दर्शन के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा भी की गई है।

ज्ञातव्य है कि प्रज्ञापना–सूत्र के इन्द्रिय–पद में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि श्रवणेन्द्रिय प्रविष्ट शब्दों को सुनती है या अप्रविष्ट शब्दों को सुनती है। इसके उत्तर में कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय प्रविष्ट शब्दों को ही सुनती है, अप्रविष्ट शब्दों को नहीं सुनती है। श्रवणेन्द्रिय के समान ही घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय भी अपने–अपने प्रविष्ट विषयों को ग्रहण करती हैं। प्रज्ञापनासूत्र की मलयगिरि की वृत्ति में (१३ वीं शती) स्पृष्ट और प्रविष्ट का अन्तर बताते हुए भी कहा गया है कि जैसे शरीर पर रेत या धूल–कण लगते हैं, उसी तरह इन्द्रिय का अपने विषय के साथ मात्र संस्पर्श हो, तो वह विषय स्पृष्ट (स्पर्शित) कहलाता है, जबकि वे विषय, जो इन्द्रिय के प्रदेशों के साथ एकाकार होते हैं, उनमें प्रवेश करते हैं, तो वे बद्ध और प्रविष्ट कहलाते हैं। उदाहरण के रूप में, किसी खाद्य–पदार्थ का रसनेन्द्रिय से स्पर्शित होना स्पृष्ट है, किन्तु उस पदार्थ के रस का हमारे स्वाद–कोषों से एकाकार होना – वह बद्ध या प्रविष्ट होना है। जैनदर्शन की यहाँ यह मान्यता है कि चारों इन्द्रियाँ अपने स्पृष्ट, बद्ध और प्रविष्ट विषयों को ही जानती हैं, परन्तु चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट, अबद्ध और अप्रविष्ट विषयों को जानती है। यहाँ हम देखते हैं कि आगम–युग तक या सर्वार्थसिद्धि के काल तक जैन–आचार्यों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रस्तुतिकरण मात्र रहा है, अन्य मतों की समीक्षा नहीं, जबकि तत्त्वार्थसूत्र की राजवार्त्तिक–टीका (आठवीं शती), प्रमाणनयतत्त्वालोक, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका (सभी प्रायः ११

वीं शती) आदि ग्रन्थों में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के प्रश्न पर न केवल स्वपक्ष का मंडन है, अपितु प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के प्रश्न पर नैयायिकों और बौद्धों के मतों की विस्तार से समीक्षा भी की गई है।

चक्षु के प्राप्यकारित्व के सम्बन्ध में नैयायिकों की समीक्षा

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पाँचों इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के प्रश्न पर वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य–दार्शनिक भी न्यायदर्शन की मान्यता के समर्थक रहे हैं, अर्थात् न्याय–वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य – सभी पाँचों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, अतः इस सम्बन्ध में जैन–दार्शनिकों द्वारा की गई न्याय–दर्शन की समीक्षा इन सभी दर्शनों पर भी लागू हो जाती है। पुनः, यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन–दार्शनिक भी चक्षु के अतिरिक्त अन्य चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, अतः एक ओर उन्होंने नैयायिक आदि की समीक्षा मात्र चक्षु की प्राप्यकारिता के सम्बन्ध में की है, तो दूसरी ओर, बौद्धों की श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की भी समीक्षा की है। यहाँ हम सर्वप्रथम चक्षु की प्राप्यकारिता की समीक्षा करेंगे, फिर श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा करेंगे।

चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्यकारिता के सम्बन्ध में नैयायिकों की मान्यता यह है कि चक्षुरिन्द्रिय के विषय स्वयं आकर तो चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श नहीं करते हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय से तैजस निकलकर चक्षुरिन्द्रिय के विषयों का संस्पर्श कर उन्हें जानती हैं। इस पर जैनों की प्रथम आपत्ति यह है कि तैजस चक्षु से निकलकर जाता हुआ दिखाई नहीं देता है, दूसरे, यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो वह एक साथ पर्वत, चन्द्र आदि अनेक विषयों का संस्पर्श कैसे कर सकती है। तीसरे, यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी है, तो वह अपने आकार से कई गुना बृहदकाय पदार्थों, यथा– पर्वत आदि का संस्पर्श कैसे कर सकती है ? नैयायिकों ने जैनों के इन तीनों आक्षेपों का उत्तर इस क्रम में प्रस्तुत किया है कि प्रथम तो चक्षु से जो तैजस निकलकर चक्षुरिन्द्रिय के विषयों का संस्पर्श करता है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाण से नहीं हो सकता है, क्योंकि उस तैजस में रूप अनुद्भूत है, अर्थात् वह अमूर्त्त है, अतः उसका ज्ञान अनुमान–प्रमाण से होता है। इस पर जैनों का

प्रत्युत्तर यह है कि अनुमान तो व्याप्ति पर निर्भर होता है और व्याप्ति–ज्ञान की संस्थापना बिना प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है, अतः जिसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, उसकी व्याप्ति–स्थापना सम्भव नहीं है और जहाँ व्याप्ति–ज्ञान नहीं है, वहाँ अनुमान नहीं है। यदि यह कहा जाये कि बिल्ली, शेर, वृषभ आदि की आँखों में प्रभा (चमक) देखी जाती है, किन्तु वह प्रभा नैत्रस्थित प्रतीत होती है, बाहर जाती हुई प्रतीत नहीं होती है, अतः इस तर्क के आधार पर चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होता है, यदि यह कहा जाए कि आँख में लगे हुए अंजन का प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी वह चक्षु–ज्ञान की निर्मलता का कारण होता है, उसी तरह, चाहे तैजस का प्रत्यक्ष न हो, फिर भी वह चाक्षुष–ज्ञान का हेतु होता है। नैयायिकों के इस तर्क का उत्तर देते हुए जैन–दार्शनिक कहते हैं कि चक्षु में अंजन की उपस्थिति चाहे वह चक्षु नहीं देख पाए, किन्तु अन्य व्यक्ति के चक्षु से तो उसका भी प्रत्यक्ष होता है। दूसरा व्यक्ति यह जान लेता है – इस आँख में अंजन है और इस आँख में नहीं। पुनः, जैसे अंजन द्रव्य का अस्तित्व है, वैसे ही चाहे प्रभा (रश्मिचक्र) का अस्तित्व हो भी, किन्तु चक्षु से प्रभा को बाहर जाते हुए तो देखा नहीं जाता है। उल्लू, बिल्ली आदि अन्धेरे में इसलिए नहीं देखते हैं कि उनकी आँखों से रश्मिचक्र (तैजोद्रव्य) बाहर जाता है, यदि ऐसा होता, तो फिर मनुष्य भी अंधकार में देखने में उतना ही सक्षम होना था, क्योंकि तेजोद्रव्य दोनों की चक्षुओं में है। वास्तविकता यह है कि उनकी आँखों की पुतलियाँ अंधेरे में अधिक फैलकर प्रतिछाया को ग्रहण करने में अधिक समर्थ होती हैं। उनकी आँखों की रश्मि निकलकर बाहर नहीं जाती है। पुनः, प्रभा या रश्मि या तो सूक्ष्म होगी या विभु; यदि वह सूक्ष्म है, तो स्थूल पदार्थों का समग्र रूप से संस्पर्श नहीं कर पाएगी और यदि वह व्यापक है, तो फिर सभी को एक साथ जान लेगी, किन्तु ऐसा होता नहीं है। चक्षु दीवार आदि की ओट में रहे हुए विषयों को नहीं जान पाती है, अतः चक्षु प्राप्यकारी नहीं हो सकती है। यदि नैयायिकों की ओर से यह कहा जाये कि चक्षु निकटस्थ और दूरस्थ पदार्थों को एक साथ न जानकर क्रमपूर्वक ही जानती है, वह तैजस पहले निकटस्थ पदार्थ का ग्रहण करते हैं और फिर दूरस्थ को, किन्तु समय का अन्तराल इतना कम होता है कि वे एक

साथ प्रतीत होते हैं, जैसे – सुई से सौ कमल–पत्तों को छेदते हुए भी हम उन्हें क्रमशः छेदते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि हमने उन्हें एक साथ छेद दिया। इस सम्बन्ध में जैन–दार्शनिकों का उत्तर यह है कि चाक्षुषज्ञान में अनेक विषयों का जो बोध होता है, उसमें क्रम नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रिय अनेक विषयों को एक साथ जानती है। भीड़ में हम अनेक मनुष्यों के अंग–प्रत्यंगों और उनकी वेशभूषा आदि को एक साथ जानते हैं। जैनों के इस आक्षेप का कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो वह अपने से बृहत्काय पर्वत आदि को संस्पर्श करके नहीं जान सकती है, नैयायिकों का उत्तर यह है कि चक्षु वास्तविक इन्द्रिय नहीं है, वास्तविक इन्द्रिय तैजस है और तैजस जैसे दीपक आकार में छोटा होकर भी अपने प्रकाश को व्याप्त करके सम्पूर्ण कमरे (कक्ष) की वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार तैजस या रश्मिचक्र भी फैलकर चक्षु से बृहत्काय वस्तुओं को प्रकाशित कर जान लेता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनों का कथन है कि प्रकाश तो पौद्गलिक है और उसका फैलना या व्याप्त होना प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, जबकि चक्षु–तैजस या रश्मिचक्र का व्याप्त होना अनुभव में नहीं आता है, अतः जब चक्षु–तैजस का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, तो उसके व्याप्त होने का कथन कैसे स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे, जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि यदि चक्षु–तैजस को अमूर्त्त (अनुद्भूत रूपवाला) मानकर उसे व्याप्त माना जाये, जैसे– आकाश, तो ऐसी स्थिति में उसे विश्व के समस्त पदार्थों का एक साथ दृष्टा या प्रकाशक मानना होगा और तब व्यक्ति चक्षु के माध्यम से विश्व के समस्त पदार्थों का दृष्टा–ज्ञाता हो जायेगा, किन्तु यह सत्य नहीं है। हम दीवार आदि के उस पार के पदार्थों को भी नहीं जान पाते हैं, चक्षु का तैजस न तो अमूर्त्त माना जा सकता है और न व्यापक गुण वाला। यदि कहा जाये कि जैन भी अमूर्त्त आत्मा को मात्र शरीरव्यापी मानते हैं, सर्वव्यापी नहीं, तो फिर चक्षु–तैजस को चक्षु में ही व्याप्त मानना होगा, साथ ही, यदि नैयायिक उसे प्रसारणशील मानता है, तो प्रसारण को दृश्य मानना पड़ेगा। जैन प्रकाश को प्रसारणशील मानते हैं, किंतु उनके अनुसार प्रकाश पौद्गलिक है और दृश्य है, जबकि नैयायिकों को तैजस दृश्य नहीं है, अतः चक्षु से तैजस निकलकर बाह्यार्थ

का संस्पर्श करके उसे जानता है– यह सिद्ध नहीं होता है।

पुनः, नैयायिकों के द्वारा यह कहा जाये कि रसनेन्द्रिय के समान चक्षु भी बाह्येन्द्रिय है, अतः वह भी बाह्यार्थ को संस्पर्श करके ही उसे जानती है, तो उनका यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि जो भी बाह्येन्द्रिय होती हैं, वे सब प्राप्यकारी ही होती हैं – ऐसा नियम या व्याप्ति नहीं है। बाह्यार्थ चक्षु के समीप आकर न तो चक्षु का संस्पर्श करते हैं और न चक्षु को बाह्यार्थों के समीप जाकर उनका संस्पर्श करते देखा जाता है, अतः चक्षु अप्राप्यकारी है। अन्य इन्द्रियों के विषय जैसे उन–उन इन्द्रियों के संस्पर्श करते हैं, वैसे चक्षु के विषय उसका संस्पर्श नहीं करते हैं, अतः चक्षु–इन्द्रिय प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होती है। चक्षु के अप्राप्यकारित्व के विषय में जैनाचार्यों का एक तर्क यह है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो उसे अपना संस्पर्श करते रहे हुए अति निकटवर्ती अंजन आदि को भी जानना चाहिए, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय आदि जो भी प्राप्यकारी इन्द्रियाँ हैं, वे अपने अति निकटवर्ती संस्पर्शित अपने विषय को जानती हैं, जबकि चक्षु अपना स्पर्श करते रहे हुए अंजन आदि के रूप को जानने में समर्थ नहीं है, अतः चक्षु अप्राप्यकारी है, वह दूर से ही अपने विषयों का ग्रहण करती है।

बौद्धसम्मत श्रवणेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा

ज्ञातव्य है कि जैनाचार्यों ने जहाँ एक ओर नैयायिक आदि दार्शनिकों के चक्षु के प्राप्यकारित्व का खण्डन किया, वहीं दूसरी ओर, उन्होंने बौद्धों के श्रवणेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व का भी खण्डन किया है। बौद्धों का मानना है कि श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी है और वह भी अपने विषय को बिना संस्पर्श किये ही जान लेती है, वह दूरस्थ ध्वनि का ग्रहण करती है, किन्तु जैनाचार्य उनके मंतव्य से सहमत नहीं हैं, वे नैयायिकों के समान ही श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी ही मानते हैं।

श्रवणेन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए बौद्धों का प्रथम तर्क यह है कि जो इन्द्रिय प्राप्यकारी होती है अर्थात् अपने विषय का संस्पर्श करके जानती है, उसे दिग्देश अर्थात् दूरी और निकटता का तथा पूर्व–पश्चिम आदि दिशा का बोध नहीं होता है, जैसे रसनेन्द्रिय को अपने विषय की दूरी, निकटता आदि दिग्देश का ज्ञान नहीं होता है, जबकि

श्रवणेन्द्रिय को दिग्देश का ज्ञान होता है, वह यह जानती है कि शब्द कितनी दूरी से एवं किस दिशा से आ रहा है, अतः श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी है, क्योंकि उसे दिग्देश का ज्ञान होता है। जैनाचार्यों ने उनकी इस मान्यता का खण्डन स्वयं उन्हीं की मान्यता से किया है। रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि आप (बौद्ध) यह मानते हो कि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय प्राप्यकारी हैं। इन दोनों इन्द्रियों को अपने विषयों के दिग्देश का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय यह जानती है कि किस फूल की सुगन्ध किस दिशा से आ रही है, इसी प्रकार, स्पर्शेन्द्रिय वायु के स्पर्श से यह भी जान लेती है कि यह शीतल वायु किस दिशा से आ रही है। यदि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए भी प्राप्यकारी हैं, तो फिर श्रवणेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए प्राप्यकारी क्यों नहीं हो सकती है। इस पर भी यदि बौद्ध यह कहें कि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय को दिग्देश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, वे अनुमान से ही दिग्देश का ज्ञान प्राप्त करती हैं, उन्हें दिग्देश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, इस संबंध में जैनों का उत्तर यह है – घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के समान ही श्रोत्रेन्द्रिय को भी दिग्देश का ज्ञान तो अनुमान से होता है, क्योंकि दिग्देश का ज्ञान उसका अपना विषय नहीं है, अतः घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के समान श्रवणेन्द्रिय को भी प्राप्यकारी मानना होगा। पुनः, यदि श्रवणेन्द्रिय अप्राप्यकारी होती, तो अनुकूल वायु से दूर के शब्द का भी ज्ञान और प्रतिकूल वायु के समीप के शब्द के ज्ञान का अभाव कैसे सिद्ध होता? इससे सिद्ध होता है कि श्रवणेन्द्रिय अपने विषय 'शब्द' को संस्पर्श करके ही जानती है, अतः वह प्राप्यकारी है।

पुनः, बौद्धों का तर्क यह भी है कि यह श्रवणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, तो बन्द कमरे में बाहर के शब्द का ज्ञान कैसे हो जाता है ? इस संबंध में जैनों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार बन्द कमरे में वायु के सहारे बाहर रहे हुए कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों की गंध प्रवेश कर जाती है, वैसे ही वायु के सहारे शब्द–ध्वनि भी कमरे में प्रवेश कर जाती है, अतः घ्राणेन्द्रिय के समान श्रवणेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समीक्षा

जैनाचार्य श्रवणेन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय के समान प्राप्यकारी इसलिए भी मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार, जिस प्रकार गन्ध पौद्गलिक एवं प्रसरणशील है, उसी प्रकार शब्द भी पौद्गलिक एवं प्रसरणशील हैं। जैन–दर्शन की मान्यता है कि शब्द जहाँ बोले जाते हैं, वहाँ से यात्रा करते हुए सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं, अतः हम जो भी शब्द सुनते हैं, वे श्रवणेन्द्रिय से संस्पर्शित होकर ही अपना बोध कराते हैं। आज विज्ञान भी यह मानता है कि शब्द पौद्गलिक और गतिशील हैं। ध्वनि की यात्रा सम्बन्धी जो भी खोज हुई है, वह जैन–दर्शन की ध्वनि (शब्द) सम्बन्धी मान्यताओं की वैज्ञानिक–सत्यता ही सिद्ध करती है, अतः श्रवणेन्द्रिय की प्राप्यकारिता अब आधुनिक विज्ञान से भी सिद्ध हो जाती है।

किन्तु, जहाँ तक चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता का प्रश्न है, वैज्ञानिक–दृष्टि से उस पर चिन्तन अपेक्षित है। न्यायदर्शन की यह मान्यता तो विज्ञान–सम्मत नहीं है कि चक्षु से तैजस निकलकर अपने रूप का स्पर्श करता है, किन्तु इस बात में आंशिक सत्यता अवश्य है कि रूप प्रकाश और छाया के रूप में अपनी यात्रा करते हुए हमारी चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श करता है। वस्तुतः, चक्षु जिसे जानते हैं, वह वस्तु नहीं, अपितु वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है, जो चक्षु द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैनदर्शन में शब्द के समान ही प्रकाश और छाया को भी पौद्गलिक माना गया है, अतः जैनदर्शन में प्रकाश और छाया के रूप में चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी मानने में बाधा नहीं है। चक्षु संस्पर्श करके रूप को जानती है, साक्षात् वस्तु को नहीं। जिसे वह जानती है, वह उसका प्रतिबिम्ब ही है, अतः वस्तु की अपेक्षा से चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुरूप उसकी विषय का संस्पर्श नहीं होता है, जिसका ग्रहण होता है, वह प्रकाश और छाया के रूप में परिणत उसका प्रतिबिम्ब ही है, मूल विषय नहीं। वस्तुतः, प्रतिबिम्बग्राहिता चक्षुरिन्द्रिय की इन्द्रियों में विशिष्टता है और इस संदर्भ में अर्थात् प्राप्यकारित्व–अप्राप्यकारित्व की समस्या पर चक्षुरिन्द्रिय की इस विशिष्टिता को ध्यान में रखकर विचार किया जाना चाहिए।

2. स्मृति–प्रमाण

जैनदर्शन में परोक्ष–प्रमाणों के अन्तर्गत निम्न पाँच प्रमाणों की चर्चा की गई है – 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क या ऊह, 4. अनुमान और 5. आगम या शब्द। केवल एक अपवाद है, न्याय–विनिश्चय के टीकाकार वादीराजसूरि। उन्होंने पहले परोक्ष के दो भेद किये – 1. अनुमान और 2. आगम और फिर अनुमान के मुख्य और गौण – ऐसे दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव गौण अनुमान में किया है। जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण–योजना को अतीन्द्रिय आत्मिक–प्रत्यक्ष के अन्तर्गत एवं न्यायदर्शन में योगज–प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृत माना है। जहाँ तक सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष या इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसे सभी भारतीय– दर्शनों ने प्रमाण माना है, चाहे उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा हो। परोक्ष प्रमाणों में अनुमान और आगम को भी अधिकांश भारतीय–दर्शनों ने प्रमाण की कोटि में माना है। प्रत्यभिज्ञा को भी न्यायदर्शन प्रत्यक्ष–प्रमाण के एक भेद के रूप में स्वीकार करता है, मात्र अन्तर यही है कि जहाँ जैन–दार्शनिक उसे परोक्ष–प्रमाण का भेद मानते हैं, वहाँ न्यायदर्शन उसे प्रत्यक्ष–प्रमाण का एक भेद मानता है। यद्यपि यह अन्तर अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अकलंक ने भी उसे शब्द–संसर्ग से रहित होने पर सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ही लिया था। अपने स्वरूप की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान में ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष और स्मृति – दोनों का योग होता है, अतः वह आंशिक रूप से प्रत्यक्ष और आंशिक रूप से परोक्ष सिद्ध होता है।

न्यायदर्शन में स्मृति को ज्ञान का साधक तत्त्व तो माना है, किन्तु उसे प्रमाण–रूप नहीं बताया है, जबकि जैनदर्शन स्मृति को प्रमाण–रूप मानता है। जैनों के स्मृति–प्रमाण की समीक्षा नैयायिकों और बौद्धों – दोनों ने की है। 'स्मृति' शब्द का अर्थ है – पूर्वानुभूत विषय का पुनः ज्ञान या बोध होना। स्मृतिप्रमाण में भूतकालीन अनुभूति का वर्त्तमान–काल में स्मरण होता है, वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष से भूतकालीन अनुभूति अर्थात् स्मृति की तुलना करने पर, यह वही है – ऐसा जो बोध होता है, वह प्रत्यभिज्ञान

कहलाता है। सामान्य भाषा में इसे पहचान भी कहते हैं, किन्तु यह सब स्मृति पर आधारित है, अतः जहाँ तक स्मृति का प्रश्न है, वह तो मात्र भूतकालीन अनुभूतियों के संस्कारों का वर्त्तमानकाल में जाग्रत हो जाना है। प्रत्येक भूतकालीन अनुभूति का अपनी वर्त्तमानकालीन अनुभूति से सादृश्य और वैदृश्य होता है, जो प्रत्यभिज्ञान का आधार बनता है। इस सादृश्य और वैदृश्य की कल्पना बिना पूर्व अनुभूति के स्मरण या स्मृति के बिना संभव नहीं होती है।

भारतीय–दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो स्मृति को प्रमाण–रूप में स्वीकार करता है। यद्यपि जैन–न्याय के प्रारम्भिक–काल में स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में नहीं माना गया था। जैन–न्याय के प्रणेता सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रन्थ न्यायावतार में स्मृति के प्रमाण–रूप होने की कोई चर्चा नहीं की है। स्मृति प्रमाण है, इसका सर्वप्रथम उल्लेख दिगम्बर आचार्य अकलंक देव (8वीं शती का अन्तिम भाग) ने अपने ग्रन्थों में किया है। श्वेताम्बर–परम्परा में स्मृति के प्रमाणरूप होने की चर्चा न्यायावतार की सिद्धऋषि (लगभग 9 वीं शती) की टीका में मिलती है। दिगम्बर–परम्परा में अकलंक के पश्चात् के ग्रन्थों में स्मृति के प्रमाणभूत होने की चर्चा विस्तार से मिलती है। बौद्ध–परम्परा में दिङ्नाग के न्यायप्रवेश, वसुबन्धु की वादविधि, धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिंदु, हेतुबिंदु आदि ग्रन्थों में स्मृति आदि के खण्डन का उल्लेख नहीं मिलता है। बौद्ध–आचार्य धर्मोत्तर ने भी, स्मृति आदि प्रमाण हैं या नहीं – इस संबंध में कोई चर्चा नहीं की है। बौद्ध–परम्परा में सर्वप्रथम अर्चट ने हेतुबिंदु की टीका में स्मृति–प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणता का निरसन या खण्डन करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार, स्मृति को प्रमाण–रूप मानने की और उसकी प्रमाणता का खण्डन करने की – ये दोनों ही प्रवृतियाँ 8वीं–9वीं शताब्दी की घटना है। जैन–दार्शनिक स्मृति को प्रमाणभूत इसलिए मान रहे हैं कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण माने बिना व्याप्तिसंबंध की स्थापना संभव नहीं है और व्याप्तिसम्बन्ध के बिना अनुमान भी प्रमाणभूत नहीं होता है। बौद्धों और नैयायिकों ने अनुमान की प्रमाणता को भी स्वीकार किया है। यह सही है कि बौद्धदर्शन के

क्षणिकवाद और सन्ततिवाद में स्मृति को प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता, क्षणजीवी वस्तु की स्मृति यथार्थ नहीं होगी, क्योंकि उस वस्तु के अभाव में उसकी प्रमाणरूपता सिद्ध नहीं हो सकती है। यहाँ जैनों का कथन है कि स्मृति को प्रमाणभूत माने बिना प्रत्यभिज्ञान प्रमाणरूप नहीं होगा और उसके प्रमाणरूप हुए बिना अनुमान की आधार व्याप्ति भी प्रमाणरूप नहीं होगी। बौद्ध– दार्शनिकों ने स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को जो प्रमाण–रूप नहीं माना, उसका मुख्य कारण उनकी क्षणभंगवादी तत्त्वमीमांसा ही है। न्यायदर्शन में भी स्मृति को प्रमाणरूप नहीं माना था, उसका कारण यह था कि उनके यहाँ प्रत्यक्ष के एक विभाग के रूप में सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति को स्वीकार किया गया था, जिसके आधार पर व्याप्तिसंबंध की स्थापना हो सकती थी, किन्तु जैनों के लिए यह आवश्यक था कि वे व्याप्ति–संबंध की स्थापना के लिए तर्क या ऊह को प्रमाणरूप मानें और तर्क को प्रमाणरूप मानने के लिए प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणरूप मानना आवश्यक होगा और प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणरूप मानने के लिए स्मृति को प्रमाणरूप मानना ही होगा। यदि स्मृति प्रमाणरूप नहीं होगी, तो प्रत्यभिज्ञान (पहचान) भी प्रमाणरूप नहीं होगा और बिना प्रत्यभिज्ञान या पहचान को प्रमाणभूत माने दो तत्त्वों के मध्य त्रैकालिक व्याप्तिसंबंध की स्थापना सम्भव नहीं होगी और व्याप्तिसम्बन्ध के बिना अनुमान भी संभव नहीं होगा। अतः, जैनन्याय की यह विशेषता थी कि उसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को भी प्रमाणरूप मानना पड़ा है।

स्मृति का अर्थ है भूतकाल के अनुभवों का वर्त्तमान में पुनः जाग्रत हो जाना, अतः स्मृति का संबंध भूत और वर्त्तमान – दोनों से होता है। वर्त्तमानकाल में किसी निमित्त को पाकर वर्त्तमान में उस भूतकालीन अनुभूति के संस्कारों को पुनः चेतना के स्तर पर आ जाना, भूतकालीन अनुभूति का वर्त्तमान में सजग हो जाना ही स्मृति है। यह दो कालों की अनुभूतियों का संकलन है। इस आधार पर यह भी कह सकते हैं कि स्मृति भी संकलनात्मक ज्ञान है। हेतु से जो साध्य के त्रैकालिक संबंध का बोध होता है, उसमें स्मृति एक प्रमाणभूत घटक है। यदि स्मृति को प्रमाणभूत नहीं मानेंगे, तो अनुमान की प्रमाणभूतता पर भी प्रश्नचिह्न लग सकता है।

अतः, जैन आचार्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे स्मृति को अर्थात् भूतकाल में अनुभूत संस्कारों के वर्त्तमान में जाग्रत होने को प्रमाणभूत मानें, यही स्मृति की प्रमाणरूपता का आधार है। इसे अनुमान में सहायक होने से ही लगभग 12वीं शती में वादिराजसूरी ने इसे अनुमान–प्रमाण का ही एक अंश मान लिया था, परन्तु अंश के प्रमाणभूत हुए बिना अंशी भी अर्थात् अनुमान भी प्रमाणरूप नहीं होगा, अतः, स्मृति प्रमाणरूप है – यही सिद्ध होता है।

जैन–दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क ही ऐसे हैं, जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण की कोटि में वर्गीकृत नहीं किया गया है। न्यायदर्शन प्रमा और अप्रमा के वर्गीकरण में स्मृतिजन्य ज्ञान और तर्कजन्य ज्ञान – दोनों को ही अप्रमा अथवा अयथार्थ ज्ञान मानता है। यद्यपि अन्नम्भट्ट का वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वे पहले ज्ञान को स्मृति और अनुभव – इन दो भागों में वर्गीकृत करते हैं और बाद में अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ – इन दो भागों में बाँट देते हैं। इस प्रकार, वे स्पष्ट रूप से स्मृति को अयथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं। अन्नम्भट्ट तर्क को अयथार्थ ज्ञान में ही वर्गीकृत करते हैं। यद्यपि वे उसे संशय और विपर्यय से भिन्न अवश्य मानते हैं। उन्होंने अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद किये हैं – 1. संशय, 2. विपर्यय और 3. तर्क। इस प्रकार, हम देखते हैं कि न्यायदर्शन स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि के समान तर्क को भी प्रमाण की कोटि में नहीं रखता है, यद्यपि यह स्वतन्त्र प्रश्न है कि क्या संशय, विपर्यय और तर्क एक ही स्तर के ज्ञान हैं या भिन्न–भिन्न स्तर के ज्ञान हैं ? क्या अयथार्थ ज्ञान का अर्थ भ्रमयुक्त या मिथ्या ज्ञान है ? जिस पर हम आगे विचार करेंगे। चाहे न्याय–दर्शन ने तर्क को प्रमाण नहीं माना हो, फिर भी *वह अपने षोडश पदार्थों में तर्क को एक स्वतन्त्र स्थान तो देता ही है।*

3. प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण

भूतकाल और वर्त्तमानकाल की अनुभूति के मध्य सादृश्य या वैदृश्य के अनुभव को ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इसमें भूतकाल के प्रत्यक्ष से जनित अनुभूति के संस्कारों और वर्त्तमान की प्रत्यक्षजनित अनुभूति के संस्कारों के मध्य एक तुलना होती है और उस तुलना के माध्यम से यह बोध होता

है कि यह उसके समान (सदृश्य) है, अथवा यह उससे भिन्न (वैदृश्य) है। ऐसे सदृश्य या वैदृश्य के बोध को ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह एक तुलनात्मक ज्ञान है। व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना के लिए सादृश्य का बोध और व्याप्ति– संबंध के निषेध के लिए वैदृश्य का बोध सहायक होता है। इससे हमें दो तथ्यों के मध्य व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना में सहायता मिलती है। इसे ही प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण कहते हैं। भूतकाल की अनुभूति और वर्त्तमान के प्रत्यक्ष के आधार पर यह निश्चय करना कि 'यह वही है' – प्रत्यभिज्ञा का ही एक रूप है, अतः प्रत्यभिज्ञा दो कालों के अनुभवों का एक संकलन है, जिसमें उन अनुभवों की सादृश्यता या वैदृश्यता का निर्णय किया जाता है। इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञा एक संकलनात्मक एवं तुलनात्मक ज्ञान है, इसमें कभी भूतकालीन स्मृति और वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष का संकलन होता है, जैसे – ये वही मुनि हैं, अथवा ये उनके समान हैं, अथवा ये उनसे भिन्न हैं, अथवा ये उनसे छोटे हैं, अथवा ये उनसे बड़े हैं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में केवल भूतकालीन स्मृति और वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष का ही संकलन एवं तुलना नहीं होती है, अपितु उसमें कभी–कभी दो प्रत्यक्षों का भी संकलन होता है, अथवा कभी दो स्मृतियों का भी संकलन होता है। दो प्रत्यक्षों के संकलन में ऐसा ज्ञान होता है कि 'यह इसके समान है', अथवा 'यह इससे भिन्न है', या 'यह इससे छोटा है', अथवा 'यह इससे बड़ा है'। इसी प्रकार, कभी–कभी दो स्मृतियों के संकलन एवं तुलना में भी प्रत्यभिज्ञा होती है, जैसे – 'वह उससे भिन्न है', अथवा 'वह उसके समान है', अथवा 'वह उससे छोटा है', या 'वह उससे बड़ा है'। इस प्रकार, यह सत्य है कि प्रत्यभिज्ञा एक संकलनात्मक ज्ञान है, किन्तु यह संकलन एवं तुलना भी तीन रूपों में होती है – प्रथमतः, उसमें यह संकलन या तुलना भूतकालीन स्मृति और वर्त्तमानकालीन प्रत्यक्ष में भी होती है, तो कभी वर्त्तमानकालीन दो प्रत्यक्षों में भी होती है, अथवा कभी भूतकालीन दो स्मृतियों में भी होती है। जैन–दार्शनिकों के अनुसार, यह संकलनात्मक एवं तुलनात्मक बोध व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना अथवा व्याप्तिसम्बन्ध के निषेध के लिए आवश्यक होता है, इसके बिना व्याप्तिसम्बन्ध का ऐसा प्रामाणिक–बोध नहीं होता है, जो अनुमान का आधार बन सके, अतः प्रत्यभिज्ञान भी एक प्रमाण है। यदि

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं होगा, तो फिर अनुमान भी प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि अनुमान जिस व्याप्ति–सम्बन्ध के बोध पर आधारित है, उस व्याप्ति–सम्बन्ध के बोध में प्रत्यभिज्ञा ही साधक है। बौद्ध–दार्शनिक क्षणिकवादी होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानकर भ्रांतिरूप मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि जब वस्तु का लक्षण प्रतिक्षण बदलने का है, तो बदलने वाले को प्रत्यभिज्ञान कैसे मान सकते हैं ? प्रत्यक्ष को ही प्रत्यभिज्ञान मानना चाहिए। इसकी समीक्षा करते हुए रत्नप्रभ लिखते हैं कि प्रत्यक्ष में तो सिर्फ वर्त्तमान की वस्तु का ही बोध होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान में भूत एवं वर्त्तमान– दोनों का बोध होता है।

नैयायिक आदि प्रायः सभी भारतीय–दार्शनिकों ने प्रत्यभिज्ञा को स्वतन्त्र प्रमाण तो नहीं माना, किन्तु उसे व्याप्तिस्थापन में सहायक मानने से इंकार भी नहीं किया है, जबकि बौद्ध–दार्शनिकों ने प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणरूपता का स्पष्ट खण्डन किया है और उसे भ्रान्तज्ञान कहा है। उनके अनुसार, प्रत्यभिज्ञा एक तुलनात्मक एवं संकलनात्मक ज्ञान है, जबकि उनकी क्षणिकवादी तत्त्वमीमांसा में ऐसा तुलनात्मक ज्ञान अर्थात् 'यह वही है', सम्भव ही नहीं है, क्योंकि कोई सत्ता दो क्षण भी एकरूप नहीं रहती है, अतः दो तथ्यों के मध्य तुलनात्मक एवं संकलनात्मक ज्ञान प्रामाणिक या अभ्रांत नहीं हो सकता है। चाहे बौद्ध–दार्शनिक अपनी तत्त्वमीमांसा के प्रति सत्यनिष्ठ रहते हुए प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं मान सके हों, किन्तु व्याप्तिस्थापन में एवं व्यावहारिक–जीवन में उसकी उपयोगिता से इंकार भी तो नहीं किया जा सकता है। बौद्धों को भी यह तो मानना होगा कि बिना किसी सार्वकालिक और सार्वदैशिक तथ्य की कल्पना के व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना को सिद्ध नहीं किया जा सकता है और व्याप्तिसम्बन्ध के अभाव में उनके द्वारा मान्य अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता है। नैयायिकों ने प्रत्यभिज्ञा को स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए नहीं माना, क्योंकि उन्होंने व्याप्तिस्थापन हेतु प्रत्यक्ष के एक भेद के रूप में सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति को मान रखा था, किन्तु जैनों के लिए व्याप्ति हेतु सादृश्य या वैदृश्य सम्बन्धरूप प्रत्यभिज्ञा जैसे तुलनात्मक एवं संकलनात्मक ज्ञान को प्रमाणभूत मानना आवश्यक था, क्योंकि तुलना के

बिना सार्वकालिक एवं सार्वदैशिक सम्बन्ध को जाना ही नहीं जा सकता था।

यह सत्य है कि प्रत्यभिज्ञा में दो विशेष ज्ञानों के मध्य तुलना होती है, किन्तु उन दोनों विशेष ज्ञानों की समरूपता ही हमें एक सामान्य निर्णय की ओर ले जाती है। यह सत्य है कि व्याप्तिसम्बन्ध हेतु इन दोनों विशेष ज्ञानों से सामान्य की दिशा में छलांग लगानी होती है और इस हेतु जैनों ने एक अन्य प्रमाण की संकल्पना की है, जिसे वे ऊह या तर्क कहते हैं। इस प्रकार, जब हम प्रत्यक्ष से स्मृति, स्मृति से प्रत्यभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा से ऊह या तर्क–प्रमाण की ओर जाते हैं, तो व्याप्तिसम्बन्ध की स्थापना होती है और इसी व्याप्ति के आधार पर ही अनुमान प्रमाणरूप होता है।

4. जैन–दर्शन का 'तर्क–प्रमाण'

तर्क की प्रमाण के रूप में प्रतिस्थापना का ऐतिहासिक–परिप्रेक्ष्य

भारतीय–दर्शनों में केवल जैन–दर्शन की ही यह विशेषता है कि वह प्रमाण–विवेचन में तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण मानता है, फिर भी हमें इतना ध्यान अवश्य ही रखना होगा कि प्रमाण के रूप में तर्क–प्रतिस्थापना जैन–न्याय की विकास–यात्रा का एक परवर्ती चरण है। तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर–आगम नन्दीसूत्र में तो हमें ज्ञान और प्रमाण के बीच भी कोई विभाजक–रेखा ही नहीं मिलती है, उनमें पाँचों ज्ञानों को ही प्रमाण मान लिया गया है (मति श्रुतावधिः पर्यायकेवलानिज्ञानम्। तत् प्रमाणे–तत्त्वार्थ १/६–१०), किन्तु श्वेताम्बर–आगम भगवती, स्थानांग और अनुयोगद्वार में प्रमाणों का स्वतन्त्र विवेचन उपलब्ध है। उनमें कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम – इन तीन प्रमाणों की और कहीं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम – इन चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। सम्भवतः, प्रमाणों का यह स्वतन्त्र विवेचन आगम–साहित्य में सर्वप्रथम अनुयोगद्वार में किया गया है, क्योंकि भगवतीसूत्र में उनका नाम–निर्देश करके यह कह दिया गया है कि 'जहा अणुओगद्वारे', अर्थात् अनुयोगद्वारसूत्र के समान ही इन्हें यहाँ भी समझ लेना चाहिए। यद्यपि इन आधारों पर नन्दिसूत्र, अनुयोगद्वार, स्थानांग और भगवती के वर्त्तमान पाठों की पूर्वापरता के प्रश्न को एक नये सन्दर्भ में विचारा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत चर्चा के लिए यह आवश्यक

नहीं है। एक विशेषता यह भी देखने को मिलती है कि स्थानांगसूत्र में इनके लिए 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग न होकर 'हेतु' और 'व्यवसाय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ 'हेतु' का तात्पर्य प्रामाणिक ज्ञान के साधनों से और 'व्यवसाय' का तात्पर्य ज्ञानात्मक–व्यापार के स्वरूप से है, जोकि अपने लाक्षणिक–अर्थ में प्रमाण–चर्चा से भिन्न नहीं है। ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि स्थानांगसूत्र में व्यवसाय के अन्तर्गत केवल तीन प्रमाणों की और हेतु के अन्तर्गत चार प्रमाणों की चर्चा उपलब्ध है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन–न्याय में प्रमाण–चर्चा के प्रसंग में भी आगम युग तक 'तर्क' को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। यद्यपि इसकी सम्भावना के बीज आगम–साहित्य में तथा तत्त्वार्थसूत्र में अवश्य ही उपस्थित थे, क्योंकि नन्दीसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, स्मृति, संज्ञा, प्रज्ञा और मति को पर्यायवाची मान लिया गया था। इसी प्रकार, उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को एक ही अर्थ का वाचक माना था। मेरी दृष्टि में यहाँ इन्हें पर्यायवाची या एकार्थवाचक कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि ये सब मतिज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में 'ईहा' के पर्याय के रूप में भी तर्क और ऊह – इन दोनों शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है। क्योंकि ईहा अवगृहीत अर्थ (पदार्थ) के विशेष स्वरूप को जानने की आकांक्षा के रूप में गुण–दोष विचारात्मक ज्ञान–व्यापार ही है, अतः उसका पर्याय तर्क या ऊह हो सकता है, फिर भी यहाँ तर्क को ईहा से पृथक् एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना गया है, साथ ही, 'तर्क प्रमाण' में 'तर्क' शब्द का जो अर्थ गृहीत है, वह भी यहाँ अनुपस्थित ही है। इससे प्रमाण–चर्चा के प्रसंग में 'तर्क' शब्द का जो अर्थ–विकास हुआ है, वह एक परवर्ती घटना ही सिद्ध होता है, फिर भी, ये सब बातें एक ऐसी आधारभूमि तो अवश्य प्रस्तुत कर रही थीं, जिसके सहारे अकलंक के द्वारा सातवीं शती में तर्क को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सका। वस्तुतः, तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण मानना इसलिए आवश्यक हो गया कि उसके बिना व्याप्तिग्रहण की समस्या का सही हल प्रस्तुत कर पाना

सम्भव नहीं था, क्योंकि प्रत्यक्ष, चाहे वह इन्द्रिय–प्रत्यक्ष हो या अनिन्द्रिय मानस–प्रत्यक्ष हो, त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक–व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता था, दूसरी ओर, अनुमान तो स्वयं व्याप्ति पर निर्भर था, अतः प्रत्यक्ष और अनुमान के बीच एक सेतु की आवश्यकता थी जिसे तर्क को प्रमाण मानकर पूरा किया गया। 'तर्क' को प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित करने के साथ ही अकलंक के सामने दूसरी महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि उसे सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में से किस प्रमाण के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जावे? चूँकि तत्त्वार्थसूत्र–भाष्य में ईहा का अन्तर्भाव सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष में होता था, अतः सूत्रकार के मत की रक्षा करने हेतु उसका समावेश सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष में होना था, किन्तु प्रत्यक्ष का ही एक भेद होने की स्थिति में तर्क व्याप्ति का ग्राहक नहीं बन सकता था – इस हेतु उसके बौद्धिक, विमर्शात्मक एवं सामान्य ज्ञानात्मक–स्वरूप पर बल देना भी जरूरी था और यह तभी सम्भव था, जबकि उसे शब्द–संसर्गयुक्त एवं ऐन्द्रिक तथा मानसिक–प्रत्यक्ष से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण माना जावे, किन्तु ऐसी स्थिति में उसे परोक्ष–प्रमाण में वर्गीकृत करना जरूरी था। अकलंक ने दोनों ही दृष्टिकोणों की रक्षा हेतु यह माना कि 'तर्क' आदि जब शब्द–संसर्ग से रहित हों, तो उनका समावेश सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष में और शब्द–संसर्ग से युक्त हों, तो उनका समावेश परोक्ष श्रुतज्ञान में करना चाहिए, लेकिन परम्परा की रक्षा करने का उनका यह प्रयास सफल नहीं हुआ और उत्तरकालीन अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि सभी जैन–तार्किकों ने तर्क का समावेश परोक्ष–प्रमाण में ही किया। जैन–तार्किकों का प्रमाणों का सर्वमान्य वर्गीकरण तर्क का अन्तर्भाव परोक्ष–प्रमाण में ही करता है।

सभी जैन–तार्किकों ने परोक्ष–प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम– ऐसे पाँच भेद किये हैं, केवल एक अपवाद है – न्याय–विनिश्चय के टीकाकार वादीराजसूरि। उन्होंने पहले परोक्ष के दो भेद किये – 1. अनुमान और 2. आगम और फिर अनुमान के मुख्य और गौण – ऐसे दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क का अन्तर्भाव गौण अनुमान में किया है। जैनदर्शन द्वारा स्वीकृत इस प्रमाण–योजना को अतीन्द्रिय आत्मिक–प्रत्यक्ष के रूप में एवं न्यायदर्शन में योगज–प्रत्यक्ष के

रूप में स्वीकृत किया गया है। जहाँ तक सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष या इन्द्रिय–प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसे सभी भारतीय–दर्शनों ने प्रमाण माना है, चाहे उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में थोड़ा मतभेद रहा हो। परोक्ष–प्रमाणों में अनुमान और आगम को भी अधिकांश भारतीय–दर्शनों ने प्रमाण की कोटि में माना है। प्रत्यभिज्ञा को भी न्याय–दर्शन प्रत्यक्ष–प्रमाण के एक भेद के रूप में स्वीकार करता है, मात्र अन्तर यही है कि जहाँ जैन–दार्शनिक उसे परोक्ष–प्रमाण का भेद मानते हैं, वहाँ न्यायदर्शन उसे प्रत्यक्ष–प्रमाण का एक भेद मानता है। यद्यपि यह अन्तर अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि अकलंक ने भी उसे शब्द–संसर्ग से रहित होने पर सांव्यावहारिक–प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मान ही लिया था। अपने स्वरूप की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञान में ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष और स्मृति – दोनों का योग होता है, अतः वह आंशिक रूप से प्रत्यक्ष और आंशिक रूप से परोक्ष सिद्ध होता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि तर्क–प्रमाण जैन–दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में केवल स्मृति और तर्क ही ऐसे हैं, जिन्हें अन्य दर्शनों में प्रमाण की कोटि में वर्गीकृत नहीं किया गया है। न्यायदर्शन प्रमा और अप्रमा के वर्गीकरण में स्मृति और तर्क – दोनों को ही अप्रमा अथवा अयथार्थ ज्ञान मानता है। यद्यपि अन्नम्भट्ट का वर्गीकरण थोड़ा भिन्न है। वे पहले ज्ञान को स्मृति और अनुभव – इन दो भागों में वर्गीकृत करते हैं और बाद में अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ – इन दो भागों में बाँट देते हैं। इस प्रकार, वे स्पष्ट रूप से स्मृति को अयथार्थ ज्ञान नहीं मानते हैं। अन्नम्भट्ट तर्क को अयथार्थ ज्ञान में ही वर्गीकृत करते हैं, यद्यपि वे उसे संशय और विपर्यय से भिन्न अवश्य मानते हैं। उन्होंने अयथार्थ ज्ञान के तीन भेद किये हैं –1. संशय, 2. विपर्यय और 3. तर्क। इस प्रकार, हम देखते हैं कि न्यायदर्शन तर्क को प्रमाण की कोटि में नहीं रखता है, यद्यपि यह स्वतन्त्र प्रश्न है कि क्या संशय, विपर्यय और तर्क एक ही स्तर के ज्ञान हैं, या भिन्न–भिन्न स्तर के ज्ञान हैं ? क्या अयथार्थ ज्ञान का अर्थ भ्रमयुक्त या मिथ्या ज्ञान है ? जिस पर आगे विचार करेंगे। चाहे न्यायदर्शन ने तर्क को प्रमाण नहीं माना हो, फिर भी वह अपने षोडश पदार्थों में तर्क को एक स्वतन्त्र स्थान तो देता ही है तथा व्याप्ति–स्थापना

में तर्क की उपयोगिता को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यद्यपि भारतीय–दर्शनों में सांख्य–योग तथा मीमांसा–दर्शन तर्क को 'प्रमाण' मानते हैं, किन्तु उनके तर्क को प्रमाण मानने के सन्दर्भ बिल्कुल भिन्न हैं। वे सन्दर्भ ज्ञानमीमांसा के न होकर भाषाशास्त्रीय एवं कर्मकाण्डीय हैं। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में तो वे भी अपनी–अपनी प्रमाणों की मान्यता में तर्क को कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं देते हैं। मात्र यही नहीं, मीमांसा–दर्शन तो व्याप्ति–निश्चय में भी तर्क की उपादेयता को स्वीकार नहीं करता है। इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय–दर्शन में एकमात्र जैनदर्शन ही ऐसा दर्शन है, जो तर्क को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण की कोटि में रखता है।

तर्क शब्द का अर्थ :

सर्वप्रथम प्रमाण के पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व 'तर्क' के अर्थों की जो विकास–यात्रा है, उस पर भी यहाँ विचार कर लेना अपेक्षित है। प्राचीन भारतीय–साहित्य में 'तर्क' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में होता रहा है और अर्थों की यह विविधता ही भारतीय–दर्शन में तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में भिन्न–भिन्न धारणाओं के निर्माण के लिए उत्तरदायी भी है। यह दृष्टव्य है कि शब्दों का अनियत एवं विविध अर्थों में प्रयोग ही उनके सम्बन्ध में गलत धारणाओं को जन्म देता है, इसीलिए डा. बारलिगे न्यायदर्शन के तर्क–स्वरूप की समीक्षा करते हुए यह कहते हैं – "It is such a loose use of words which has been responsible for mis-carriage of the true import of words and concepts". (A modern Introduction to Indian Logic, p. 121) अतः तर्क–प्रमाण की चर्चा के प्रसंग में हमें यह भी देख लेना होगा कि तर्क शब्द के अर्थों में किस प्रकार का परिवर्तन होता रहा है। अपने व्यापक अर्थ में 'तर्क' शब्द उस बुद्धि–व्यापार का सूचक है, जिसे विमर्शात्मक–चिन्तन (Speculative Thinking) भी कहा जा सकता है। अभिधानराजेन्द्रकोश में तर्क के तर्कना, पर्यावलोचना, विमर्श, विचार आदि पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इस प्रसंग में उसका अंग्रेजी पर्याय रीजनिंग (Reasoning) है। कठोपनिषद् के 'नैषां तर्केण मतिरापनेया', आचारांग के 'तक्क तत्थ न विज्जइ मयी तत्थ न गहिया', अथवा

महाभारत के 'तर्कोऽप्रतिष्ठो' आदि प्रसंगों में तर्क शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में हुआ है। 'तर्क' का एक दूसरा अर्थ भी है, जिसके अनुसार आनुभविक एवं बौद्धिक–आधारों पर किसी बात को सिद्ध करने, पुष्ट करने या खण्डित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को भी तर्क कहा जाता है। तर्क–शास्त्र, तर्क–विज्ञान आदि में तर्क शब्द इसी अर्थ का सूचक है, इसे आन्वीक्षकी भी कहा जाता है। यहाँ उसका अंग्रेजी पर्याय 'लाजिक' (Logic) है। इस प्रसंग में तर्क शब्द सामान्य रूप से सभी प्रमाणों को अपने में समाविष्ट कर लेता है। न्यायदर्शन में तर्क शब्द का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में हुआ है, यहाँ वह चिन्तन की ऐसी अवस्था है, जो संशय से जनित दोलन में निर्णयाभिमुख है। इस प्रकार, वह संशय और निर्णय के मध्य निर्णयाभिमुख ज्ञान है। सांख्य, योग और मीमांसा–दर्शन में उसके लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग हुआ, जिसे भाषायी–विवेक कहा जा सकता है, किन्तु जैनदर्शन के तर्क–प्रमाण के प्रसंग में 'तर्क' शब्द का प्रयोग एक चौथे अत्यन्त सीमित और निश्चित अर्थ में हुआ है। यहाँ तर्क एक अन्तःप्रज्ञात्मक (Intuitive) सुनिश्चित ज्ञान है। उसे 'सामान्य' का ज्ञान (Knowledge of universals) भी कहा जा सकता है। वस्तुतः, यह इन्द्रिय–ज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रिय ज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश है। ज्ञात से अज्ञात की खोज है। यहाँ तक वह पाश्चात्य–तर्कशास्त्र की आगमनात्मक कूदान (Inductive leap) का सूचक है। वह उन त्रैकालिक एवं सार्वलौकिक–सम्बन्धों का ज्ञान है, जिन्हें हम व्याप्ति–सम्बन्ध या कार्य–कारण–सम्बन्ध के रूप में जानते हैं और जिनके आधार पर कोई अनुमान निकाला जा सकता है। यह अनुमान की एक अनिवार्य पूर्व शर्त है, उसे हम विशेष से सामान्य की ओर, प्रत्यक्ष से अनुमान की ओर, अथवा आगमन से निगमन की ओर जाने का सेतु या प्रवेश–द्वार कह सकते हैं। *प्रमाणमीमांसा में तर्क के उपर्युक्त स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–*

उपलम्भानुपलम्भ निमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः – 2/5

अर्थात्; उपलम्भ अर्थात् यह होने पर यह होता है और अनुपलम्भ अर्थात् यह नहीं होने पर यह नहीं होता है के निमित्त से जो व्याप्ति का

ज्ञान होता है, वही तर्क है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्षादि के निमित्त से जिसके द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध या कार्य–कारण–सम्बन्ध को जान लिया गया है, वही तर्क है। यह अविनाभाव सम्बन्ध तथा कार्य–कारण–सम्बन्ध सार्वकालिक और सार्वलौकिक होता है, अतः इसका ग्रहण इन्द्रिय–ज्ञान से नहीं होता है, अपितु अतीन्द्रिय–प्रज्ञा से होता है, अतः तर्क ऐन्द्रिक–ज्ञान नहीं, अपितु अतीन्द्रिय–प्रज्ञा है, जिसे हम अन्तःप्रज्ञा या अन्तर्बोधि कह सकते हैं। तर्क के इस अतीन्द्रिय स्वरूप का समर्थन प्रमाण–मीमांसा की स्वोपज्ञवृत्ति में स्वयं हेमचन्द्र ने किया है।

वे कहते हैं – व्याप्ति ग्रहण काले योगी व प्रमात्ता (2/5 वृत्ति), अर्थात व्याप्ति–ग्रहण के समय ज्ञाता योगी के समान हो जाता है। तर्क अविनाभाव को अपने ज्ञान का विषय बनाता है और यह अविनाभाव एक प्रकार का सम्बन्ध है, अतः तर्क सम्बन्धों का ज्ञान है। पुनः, यह अविनाभाव–सम्बन्ध सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक होता है, अतः तर्क का स्वरूप सामान्य–ज्ञानात्मक होता है। अविनाभाव क्या है और उसका तर्क से क्या सम्बन्ध है – इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है– सहक्रमभाविनोः सहक्रमभावऽनियमो बिनाभावः ऊहात् तन्निश्चय – प्रमाणमीमांसा 2/10–11, अर्थात् सहभावियों का सहभाव–नियम और क्रमभावियों का क्रमभाव–नियम ही अविनाभाव है और इसका निर्णय तर्क से होता है। ये सहभाव एवं क्रमभाव भी दो–दो प्रकार के हैं। सहभाव के दो भेद हैं– 1. सहकारी सम्बन्ध से युक्त, जैसे– रस और रूप, तथा 2. व्याप्त–व्यापक या व्यक्ति–जाति सम्बन्ध से युक्त, जैसे – बटत्व और वृक्षत्व। इसी प्रकार, क्रमभाव के भी दो भेद हैं – 1. पूर्ववर्ती और परवर्ती सम्बन्ध, जैसे – ग्रीष्म–ऋतु तथा 2. कार्य–कारण सम्बन्ध, जैसे – धूम और अग्नि। इस प्रकार, सहकार–सम्बन्ध, व्याप्त–व्यापक सम्बन्ध, व्यक्ति–जाति–सम्बन्ध, पूर्वापर–सम्बन्ध और कार्य–कारण–सम्बन्ध के रूप नियम अविनाभाव है, इनका निश्चय तर्क के द्वारा होता है। इस प्रकार, तर्क सम्बन्धों और सम्बन्ध–नियमों का ज्ञान है। चूंकि ये सम्बन्ध पदों के आपादन (Implication) को सूचित करते हैं, अतः तर्क आपादन का निश्चय करना है और यह आपादन व्याप्ति की अनिवार्य शर्त है, अतः तर्क व्याप्ति का ग्राहक भी

है, इसीलिए दार्शनिकों ने कहा– "व्याप्तिज्ञानमूहः उहात् तन्निश्चय" अर्थात् व्याप्तिज्ञान ही तर्क है और तर्क से ही व्याप्ति (अविनाभाव या आपादन) का निश्चय होता है। जैन–दर्शन में तर्क–प्रमाण के इन लक्षणों की पुष्टि डा. बारलिगे ने न्यायदर्शन के तर्क के स्वरूप की समीक्षा करते हुए अनजाने में ही कर दी है। उनकी विवेचना के कुछ अंश हैं – "Tarka is something non-empirical, Tarka is that argument which goes to the root of Anuman and so is its pre-supposition or condition". It given the relation between Apadya and Apadak in its anuava of vyatireka form. It is clearly the knowledge of the implication which is evidently pre-supposed by any vyapti Tarka indicates the relation which is pre-supposed by vyapti. (See: A modern introduction to Indian Logic, p. 123-125) वस्तुतः, तर्क को अन्तर्बोधात्मक या अन्तःप्रज्ञात्मक प्रातिभ–ज्ञान कहना इ लिए आवश्यक है कि उनकी प्रकृति इन्द्रियानुभवात्मक ज्ञान अर्थात् लौि क–प्रत्यक्ष (Empirical knowledge or preception) से और बौद्धिक–निगमनात्मक अनुमान (Deductive inference) – दोनों से भिन्न है। तर्क अतीन्द्रिय (Non-empirical) और अति–बौद्धिक (Super rational) है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय एवं अमूर्त्त सम्बन्धों (Non-empirical relations) को अपने ज्ञान का विषय बनाता है। उसके विषय हैं – जाति–उपजाति–सम्बन्ध, जाति–व्यक्ति–सम्बन्ध, सामान्य–विशेष–सम्बन्ध, कार्यकारण–सम्बन्ध आदि। वह आपादन (Implication), अनुवर्त्तिता (Entailment), वर्ग–सदस्यता (Class membership), कार्यकरणता (Causality) और सामान्यता (Universality) का ज्ञान है। वह वस्तुओं को ही नहीं, अपितु उनके तात्त्विक स्वरूप एवं सम्बन्धों को भी जानता है, इसलिए उसे आपादन का ज्ञान (Knowledge of imlication) भी कहा जा सकता है। तर्क उन नियमों का दृष्टा (यहाँ मैं दृष्टा शब्द का प्रयोग जान–बूझकर कर रहा हूँ) है, जिनके द्वारा विश्व की वस्तुएं परस्पर सम्बन्धित या असम्बन्धित हैं, जिनके आधार पर सामान्य वाक्यों की स्थापना कर उनसे अनुमान निकाले जाते हैं और जिन्हें पाश्चात्य आगमनात्मक–तर्कशास्त्र में कार्य–कारण

और प्रकृति की समरूपता के नियमों के रूप में तथा निगमनात्मक–तर्कशास्त्र में विचार के नियमों के रूप में जाना जाता है और जो क्रमशः आगमन और निगमन की पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकृत हैं। इस प्रकार, तर्क की विषय–वस्तु तर्कशास्त्र की अधिमान्यताएं (Postulates of Logic and Reasoning) हैं, वह प्रत्यक्ष और अनुमान से तथा आगमन और निगमन से विलक्षण है। वह सम्पूर्ण तर्कशास्त्र का आधार है, क्योंकि वह उस आपादन (Implication) या व्याप्ति के ज्ञान को प्रदान करता है, जिस पर निगमनात्मक–तर्कशास्त्र टिका हुआ है और जो आगमनात्मक–तर्कशास्त्र का साध्य है। तर्क का यही विलक्षण स्वरूप एक ओर उसे प्रत्यक्ष और अनुमान–प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्थापित करता है, दूसरी ओर, उसे आगमन और निगमन के बीच एक योजक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। सम्भवतः, यह न्यायशास्त्र के इतिहास में जैन–तार्किकों का स्याद्वाद और सप्तभंगी के सिद्धान्तों के बाद एक और मौलिक योगदान है। जैन–दार्शनिकों के इस योगदान का सम्यक् प्रकार से मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न भारतीय–दर्शनों में प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की समीक्षा करके यह देखें कि जैनदर्शन के द्वारा प्रस्तुत तर्क के स्वरूप की उनसे किस अर्थ में विशेषता है।

अन्य भारतीय–दर्शनों में तर्क का स्वरूप

भारतीय–दर्शनों में तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार करने वालों में जैन–दर्शन के साथ–साथ सांख्ययोग एवं मीमांसा–दर्शन का भी नाम आता है, किन्तु इन दर्शनों में जिन प्रसंगों में तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया, वे प्रसंग बिलकुल भिन्न हैं। सांख्यदर्शन के लिए ऊह या तर्क, वाक्यों के अर्थ–निर्धारण में भाषागत नियमों की उपयोग की प्रक्रिया है। डा. सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता लिखते हैं– सांख्य के लिए ऊह शब्दों अथवा वाक्यों के अर्थ को निर्धारित करने के लिए मान्य भाषागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है (युक्त्या प्रयोग निरूपणमूहः–न्यायमंजरी, पृ. ५८८) पतंजलि ने भी व्याकरणशास्त्र के प्रयोजन हेतु ऊह की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, क्योंकि वेदादि में सभी लिंगों और विभक्तियों में मंत्रों का कथन

हुआ है, अतः देवता एवं द्रव्य का ध्यान रखकर उनमें परिणमन कर लेना चाहिए (महाभाष्य १/१११)। यहाँ ऊह भाषायी–विवेक और भाषायी–नियमों के पालन से अधिक कुछ नहीं है। भाषायी–नियमों के आधार पर स्वरूप एवं अर्थ को निर्धारित करने की प्रक्रिया वस्तुतः अनुमान का ही एक रूप है, अतः तर्क अनुमान के ही अन्तर्गत है, उसका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। इस प्रकार, इन दोनों दर्शनों में ही तर्क का प्रसंग ज्ञानमीमांसीय न होकर भाषाशास्त्रीय ही है। मीमांसा–दर्शन में भी तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है, किन्तु उसका सन्दर्भ भी प्रमाणमीमांसा न होकर विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड सम्बन्धी भाषा का ही है। मीमांसाकोष में ऊह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है – अन्यथा श्रुतस्य शब्दस्य अन्यथा लिंग वचनादिभेदेन विपरिणभनम् ऊहः, अर्थात् मंत्र आदि में दिये गये मूल पाठ में विनियोग के अनुसार लिंग, वचन आदि में परिवर्तन करना ऊह कहा जाता है। मीमांसाशास्त्र के सम्पूर्ण नवम् अध्याय के चार पादों के 224 सूत्रों में ऊह पर विस्तार से विचार किया गया है, किन्तु सारा प्रसंग कर्मकाण्डीय भाषाशास्त्र का ही है। उनमें तीन प्रकार के ऊह माने गये हैं – 1. मंत्र– विषयक ऊह 2. साम–विषयक ऊह, और 3. संस्कार–विषयक ऊह, किन्तु तीनों के सन्दर्भ कर्मकाण्डीय–भाषा से सम्बन्धित हैं। भाट्ट दीपिकाकार का कथन है कि प्रकृति–योग (अर्थात् जिसके लिए वह मंत्र रचा गया है) में पठित मंत्र का विकृति–योग में उसके अनुरूप परिवर्तन कर लेना ही ऊह है उदाहरण के लिए यज्ञकर्म में जहाँ ब्रीहि (चावल) द्रव्य है, वहाँ अवहनन ब्रीहि में किया जाता है। यही यज्ञकर्म अगर नीवार (जंगली चावल) से किया जाए, तो अवहनन नीवार में सम्पन्न होगा, यह द्रव्य–विषयक ऊह है। इसी प्रकार, अग्निदेवता के लिए चरू निर्वपन करते समय 'अग्नयेत्वा जुष्टं निर्वपामि' मंत्र का प्रयोग प्राकृत है, किन्तु जब अग्नि के स्थान पर सूर्यदेवता के लिए चरू निर्वपन करना हो, तो चतुर्थी विभक्त्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करते हुए 'सूर्याम् त्वा जुष्टं निर्वयामि' मंत्र का प्रयोग होता है। यह मंत्र श्रुति में पठित नहीं है, किन्तु ऊह सिद्ध है। संक्षेप में, यज्ञ एवं सस्कार आदि को सम्पन्न करते समय देवता, द्रव्य, यजमान आदि का ध्यान रखते हुए परिस्थिति के स्वरूप मंत्रों के शब्द तथा

लिंग, वचन एवं विभक्ति आदि के परिवर्तन कर लेना ऊह या तर्क है। इस प्रकार, मीमांसादर्शन में ऊह या तर्क का अर्थ कर्मकाण्डीय–भाषा के विवेक से अधिक कुछ नहीं है।

संक्षेप में, उपर्युक्त तीनों दर्शनों मे तर्क का कार्य या तो व्याकरण सम्बन्धी नियमों का ध्यान रखते हुए शब्द एवं वाक्य के अर्थ का निर्धारण करना है, या यज्ञ–याग आदि कर्मों को सम्पन्न करते समय भाषायी–विवेक ध्यान रखना है, चाहे इन दर्शनों ने तर्क की प्रामाणिकता को स्वीकार किया हो, किन्तु न तो वे उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं और न व्याप्ति–ग्रहण में उसके योगदान को ही स्वीकार करते हैं।

5. अनुमान–प्रमाण

भारतीय–दर्शनों में चार्वाक्–दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शनों में अनुमान को भी एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। 'अनुमान' शब्द का अर्थ होता है – एक ज्ञान के पश्चात् होने वाला दूसरा ज्ञान। अनुमान को परिभाषित करते हुए न्यायावतार में कहा गया है कि साध्य के बिना न होने वाले हेतु से साध्य का निश्चय कराने वाला जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहा जाता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दो तथ्यों के बीच होने वाले व्याप्ति–सम्बन्ध के आधार पर किसी एक की उपस्थिति से दूसरे का ज्ञान करना – वह अनुमान है। दूसरे शब्दों में, हेतु और साध्य में जो अविनाभाव–सम्बन्ध या व्याप्ति–सम्बन्ध होता है, उसके आधार पर हेतु की उपस्थिति से साध्य का निश्चय कर लेना अनुमान है, जैसे – पर्वत पर धुएं को देखकर वहाँ अग्नि के होने का अनुमान किया जाता है। अनुमान में हेतु का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु साध्य का प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु हेतु के प्रत्यक्षीकरण के आधार पर ही वहाँ साध्य की उपस्थिति का निश्चय होता है, अतः अनुमान को परोक्ष ज्ञान माना गया है। हेतु के साध्य के मध्य रहे हुए अविनाभाव–सम्बन्ध को ही व्याप्ति–सम्बन्ध भी कहा गया है। प्रायः, सभी दार्शनिकों ने व्याप्ति–सम्बन्ध को अनुमान का आधार माना है। हेतु वह होता है, जिसमें साध्य का निश्चय होता है। हेतु के लक्षणों को लेकर जहाँ नैयायिकों ने हेतु के ये पाँच – 1. पक्षधर्मत्व,

2. सपक्षसत्त्व, 3 विपक्षअसत्त्व, 4. अबाधित विषयत्व और 5. असत्प्रतिपक्षत्व लक्षण माने हैं, वहाँ बौद्धों ने हेतु के – 1. पक्षधर्मत्व, 2. सपक्षसत्त्व 3. विपक्षअसत्त्व – ऐसे तीन लक्षण माने हैं। जैन–दार्शनिक अविनाभाव–सम्बन्ध को ही हेतु या व्याप्ति का लक्षण मानते हैं। माणिक्यनन्दी और हेमचन्द्र के अनुसार, जिसका साध्य के साथ अविनाभावित्व निश्चित हो, वही हेतु है, जैसे – धुआँ (हेतु) अग्नि (साध्य) के बिना नहीं होता है। वादिदेवसूरी के अनुसार, निश्चित अन्यथानुपपत्ति–रूप एक लक्षण वाला ही हेतु होता है। यहाँ हम यह देखते हैं कि बौद्धों ने हेतु के जो तीन लक्षण और नैयायिकों न जो पाँच लक्षण बताये हैं, वे शाब्दिक–रूप में इसी एक लक्षण का विस्तार मात्र हैं। रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभ आचार्य ने साध्य और साधन के गम्य्–गमक– भाव–सम्बन्ध को ही ध्यान में रखकर कहा है कि जिस प्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का कार्य कहलाता है और अग्नि कारण कहलाती है, अतः दो तथ्यों के मध्य नियत कार्य–कारण–भाव होने से व्याप्ति का निश्चय हो जाता है, जैसे – जहाँ–जहाँ धुआं होता है, वहाँ अग्नि होती है।

अनुमान के प्रकार

जैन–दार्शनिकों ने अनुमान के दो प्रकार माने हैं – स्वार्थ–अनुमान और परार्थ–अनुमान। जिस अनुमान में कर्त्ता स्वयं ही धूम को देखकर अग्नि का निश्चय कर लेता है, वह स्वार्थ–अनुमान कहा जाता है। इसके विपरीत, जिसमें हेतु को दिखाकर दूसरे व्यक्तियों को साध्य का निश्चय कराते हैं, वह परार्थ–अनुमान होता है।

जैन–दार्शनिकों ने अनुमान के इन दोनों प्रकारों को प्रमाण के रूप में ही स्वीकार किया है और वे कहते हैं कि बौद्ध–दार्शनिक, जो अनुमान को प्रमाण मानकर भी उसे अभ्रांत नहीं मानते हैं, वे वस्तुतः भ्रान्त ही हैं, उनका यह सिद्धान्त सम्यक् नहीं है। न्यायावतार में सिद्धसेन के द्वारा कहा गया है कि अनुमान प्रमाण होने के कारण अभ्रांत ही होता है, क्योंकि एक ओर, अनुमान को अभ्रांत नहीं मानना और दूसरी ओर, उसे प्रमाण कहना – यह परस्पर विरोधी बात है। इस दृष्टि से जैन–आचार्यों ने बौद्धों

के अनुमान–प्रमाण को अभ्रांत प्रमाण नहीं मानने का विस्तार से खण्डन भी किया है।

अनुमान के अवयव

जैन–दार्शनिकों में अनुमान के अवयवों को लेकर चार मत मिलते हैं। प्रथमतः, स्वार्थ–अनुमान में तो हेतु–दर्शन से अनुमान हो जाता है। परार्थ–अनुमान में प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए तो प्रतिज्ञा और हेतु – ये दो अवयव ही पर्याप्त हैं, किन्तु सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों के लिए न्यायिकों के समान ही अनुमान के पाँच अवयव भी माने गये हैं – 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. दृष्टान्त, 4. उपनय और 5. निगमन और इसे निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है –

1. प्रतिज्ञा– पर्वत पर आग है।
2. हेतु – क्योंकि पर्वत पर धुआं है।
3. दृष्टान्त– जहाँ–जहाँ धुआं होता है, वहाँ–वहाँ आग होती है, जैसे – रसोईघर।
4. उपनय– पर्वत पर भी धुआं है।
5. निगमन– पर्वत पर भी आग है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कुछ जैन–दार्शनिकों ने अनुमान के दस अवयव भी माने हैं, उसके भी दो रूप मिलते हैं, प्रथम रूप में उन्होंने उपर्युक्त पाँच अवयवों में से प्रत्येक अवयव की विशुद्धि को जोड़कर निम्न दस अंगों की चर्चा भी की है, जैसे – 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञा–विशुद्धि, 3. हेतु, 4. हेतु–विशुद्धि, 5. दृष्टांत, 6. दृष्टांत–विशुद्धि, 7. उपनय, 8. उपनय–विशुद्धि, 9. निगमन और 10. निगमन–विशुद्धि। अन्यत्र, वे न्याय–भाष्य का अनुमान करते हुए प्रकारान्तर से निम्न दस अंगों का भी निर्देश करते हैं– 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञा–विभक्ति, 3. हेतु, 4. हेतु– विभक्ति, 5. विपक्ष, 6. विपक्ष–प्रतिषेध, 7. दृष्टांत, 8. आशंका, 9. आशंका–प्रतिषेध और 10. निगमन। यद्यपि जैन–दार्शनिक सिद्धसेन, अकलंक आदि भी बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति के समान ही व्युत्पन्नमति के लिए दो अवयवों को स्वीकार करते हैं, फिर भी जहाँ बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति पक्ष को

अनुमान का आवश्यक अवयव नहीं मानते हैं, वहीं जैन–दार्शनिक पक्ष और हेतु– ऐसे दो अवयवों को तो अवश्य ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि बौद्ध–दार्शनिकों में धर्मकीर्त्ति ही एक ऐसे दार्शनिक हैं, जो स्पष्ट रूप से परार्थानुमान के अवयवों में पक्ष या प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं मानते हैं। जैन–दार्शनिकों में वादिदेवसूरी ने स्याद्वादरत्नाकर में और रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में धर्मकीर्त्ति द्वारा पक्ष को अनुमान का आवश्यक अवयव नहीं मानने की अवधारणा की विस्तृत रूप से समीक्षा की है।

जिसकी जिसमें सिद्धि की जाती है, वह 'पक्ष' होता है, किन्तु जो वस्तुतः पक्ष न हो, फिर भी उसे पक्ष मान लेना – जैन–दार्शनिकों ने इसे ही पक्षाभास कहा है। जहाँ तक जैन–दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने अनुमान में पक्ष और हेतु – ऐसे दो अवययों को तो अवश्य ही स्वीकार किया है। बौद्ध–दार्शनिक पक्ष की अनिवार्यता का निषेध इसलिए करते हैं, क्योंकि विज्ञानवादी–बौद्ध बाह्यार्थ की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करते हैं। बौद्ध–दार्शनिकों ने अप्रसिद्ध–विशेषण, अप्रसिद्ध–विशेष्य और अप्रसिद्ध–उभय – इन तीनों को पक्षाभास के रूप में स्वीकार किया था, किन्तु जैन–दार्शनिकों के अनुसार, अप्रसिद्ध–विशेषण आदि को सिद्ध करना तो उचित माना जा सकता है, किन्तु जो सिद्ध है, उसे सिद्ध करने का कोई औचित्य ही नहीं रहता, इसलिए पक्षाभास का कथन करना ही युक्ति–संगत नहीं है।

पक्ष के अतिरिक्त, अनुमान में दूसरा अवयव हेतु है और इसलिए यहाँ हेत्वाभास की चर्चा भी आवश्यक है। जैन आचार्य रत्नप्रभसूरि का कथन है कि जो हेतु साध्य के बिना नहीं होता, वही एकमात्र सद् हेतु होता है, किन्तु जो हेतु मिथ्या हेतु होकर भी सद् हेतु के समान दिखाई देता है, उसे हेत्वाभास कहा जाता है। जैन–दार्शनिकों ने हेत्वाभास को तीन प्रकार का कहा है – असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक। साध्य के विपरीत किसी अन्य तथ्य के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो, वह विरुद्ध–हेत्वाभास कहलाता है, साथ ही, साध्य के साथ हेतु के अन्यथानुपपत्ति होना चाहिए, अर्थात् हेतु को साध्य के साथ ही होना चाहिए, अन्य तथ्य के साथ नहीं, किन्तु जो हेतु साध्य के साथ भी हो तथा साध्य के इतर किसी भी अन्य

तथ्य के साथ हो – ऐसा हेतु अनेकान्तिक–हेत्वाभास कहलाता है, साथ ही, जिस हेतु से साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं हो, उसको असिद्ध–हेत्वाभास कहते हैं। ऐसे तीनों प्रकार के हेतु वस्तुतः हेत्वाभास की कोटि में आते हैं। जैन–दार्शनिक हेत्वाभास के होने पर अनुमान–प्रमाण की सिद्धि सम्भव नहीं मानते हैं। जैन–आचार्यों ने पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास – तीनों को ही अनुमान की प्रमाणरूपता में बाधक माना है, अतः अनुमान को पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास से रहित होना चाहिए। ज्ञातव्य है कि जो दृष्टान्त वास्तविक न होकर दृष्टान्त या उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह दृष्टान्ताभास होता है। इन तीनों आभासों से रहित अनुमान ही प्रमाणरूप होता है।

(6) शब्द या आगम–प्रमाण

जैन–दार्शनिक प्राचीनकाल से ही शब्द एवं आगम को प्रमाणरूप मानते रहे हैं। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके शब्द या कथन या किसके द्वारा कथित आगम प्रमाणरूप माने जाएं ? इस सम्बन्ध में जैन–दार्शनिक इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि आप्त–पुरुष का कथन ही प्रमाणरूप होता है। प्रश्न उठता है कि आप्त कौन होता है ? इसके उत्तर में जैन–दार्शनिकों का कहना है कि जो सर्वज्ञ और वीतराग हो, वही आप्त हो सकता है। इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने पर उसके वचन मान्य नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जो सर्वज्ञ नहीं होगा, वह जो कुछ जानता है, वह सही हो – ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, जिसमें वीतरागता नहीं हो, उसके वचन भी प्रमाणरूप नहीं माने जा सकते हैं, इसलिए जैन–दार्शनिकों ने अपने तीर्थंकरों को सर्वज्ञ और वीतराग – दोनों ही माना है।

प्राचीनकाल में जैन–दार्शनिकों ने आगम–ग्रन्थों को प्रमाणभूत माना था। नन्दीसूत्र के काल तक आगम या श्रुतज्ञान की प्रमाणता ही मुख्य रही, किन्तु कालान्तर में शब्द या कथन की प्रमाणता के सन्दर्भ में भी विचार हुआ। शब्द–प्रमाण के सन्दर्भ में मुख्य रूप से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर जैन–आचार्यों ने विस्तार से चर्चा की है।

शब्द और उसके अर्थ में क्या सम्बन्ध है, इसको लेकर भारतीय–दार्शनिकों में तीन मत प्रमुख रहे हैं – (1) प्रथम मत यह है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य–सम्बन्ध है। शब्दों से ही उसका अर्थ (Meaning) प्रकट होता है। इस प्रकार, शब्द और अर्थ में तद्रुपता मानी गई है। मीमांसक और किसी सीमा तक न्याय–दार्शनिकों ने इस मत की पुष्टि की है। इस मत की पुष्टि के लिए प्रमुख रूप से स्फोटवाद का सिद्धान्त सामने आया। (2) इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिकों ने इस मत का खण्डन किया और दूसरा मत प्रस्तुत किया, उन्होंने कहा कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं होता है। इस प्रकार, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर परस्पर विरोधी दो मत आए। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में यह दूसरा बौद्धों का मत 'अपोहवाद' के नाम से जाना गया। जैन–दार्शनिकों ने इन दोनों मतों का खण्डन किया। प्रथम, उन्होंने कहा कि यदि शब्द और अर्थ में तादात्म्य–सम्बन्ध हो, तो 'लड्डू' शब्द का उच्चारण करने पर मीठा स्वाद आना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः शब्द और अर्थ में तद्रुपता–सम्बन्ध नहीं है। बौद्धों के इस कथन पर भी जैन–आचार्य सहमत नहीं रहे हैं कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है– यदि ऐसा माना जाएगा, तो शब्दों को सुनकर हमें किसी प्रकार का अर्थ–बोध होगा ही नहीं, 'गाय' शब्द को सुनकर हमारे चित्त में एक विशेष प्रकार के प्राणी का जो बोध होता है, वह नहीं होगा, जबकि शब्द हमारी चेतना में अपने अर्थ को उद्घाटित करते हैं। (3) अतः, शब्द और अर्थ में एक सम्बन्ध है, जिसे जैन–दार्शनिकों ने वाच्य–वाचक–सम्बन्ध कहा है। इस प्रकार, जैनदर्शन शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–सम्बन्ध मानता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। इस प्रकार, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर जैन–दार्शनिकों ने दोनों परस्पर विरोधी मतों में समन्वय किया है।

शब्द अर्थ कैसे पाते हैं?

किन्तु, पुनः यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि शब्द और अर्थ में

वाच्य–वाचक सम्बन्ध है, तो शब्द अपना अर्थ कैसे पाते हैं ? इस सम्बन्ध में, जहाँ न्यायदर्शन एवं प्राचीन मीमांसा–दर्शन यह मानते हैं कि शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध ईश्वर के द्वारा पूर्व नियत कर दिया गया है, जैन–दार्शनिक इस मत को भी स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर द्वारा प्रतिनियत होता, तो कालक्रम में शब्दों के अर्थ में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, किन्तु यह देखते हैं कि कालक्रम में शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं, जैसे– आज से 50–60 वर्ष पूर्व तक 'दादा' शब्द एक सम्मानित व्यक्ति का सूचक होता था, किन्तु आज दादा शब्द गुंडे व्यक्ति का वाचक हो गया है, अतः शब्द और अर्थ में कालक्रम में जो परिवर्तन होता है, वह यह सिद्ध करता है कि शब्द अपने साथ अपना अर्थ लेकर उत्पन्न नहीं होता, अपितु शब्दों को यह अर्थ दिया जाता है। शब्दों को अर्थ समाज और परम्परागत प्रयोगों से मिलता है, अतः शब्द और अर्थ में किसी प्रकार अनियत सम्बन्ध नहीं है। शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में समाज द्वारा मान्य कर लिया जाता है, उसके प्रयोग से वह शब्द उस अर्थ का वाचक हो जाता है, अर्थात् जैन–दार्शनिकों के अनुसार, शब्द को अर्थ अभिसमय से प्राप्त होता है। शब्द अपना अर्थ लेकर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उनको समाज द्वारा एक अर्थ दे दिया जाता है और वे उसके वाचक बन जाते हैं।

शब्द का वाच्य सामान्य या विशेष ?

'शब्द' सामान्य का वाचक है या विशेष का वाचक है ? यह प्रश्न भी भारतीय–दर्शन में प्रमुख रहा है। इस सम्बन्ध में भी दो प्रकार की अवधारणाएँ प्रचलित रही हैं। प्रथम अवधारणा के अनुसार, शब्द सामान्य या जाति का वाचक होता है। मीमांसक–दार्शनिकों की यही मान्यता है कि शब्द सामान्य के सूचक एवं ग्राहक हैं, जैसे – 'मनुष्य' शब्द मनुष्य–जाति का और 'गौ' शब्द गौ जाति का वाचक है। जहाँ तक बौद्ध–दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने यह माना है कि सब शब्द व्यक्ति के ही सूचक और ग्राहक हैं। इसके विपरीत, मीमांसक यह कहते रहे यहाँ तक कि व्यक्तिवाचक नाम भी सामान्य के ही सूचक हैं, जैसे –

'सागरमल' शब्द का वाच्य वह व्यक्ति–विशेष नहीं है, जो प्रतिक्षण बदल रहा है, अपितु वह है, जो इन बदलती हुई अवस्थाओं में भी अनुस्यूत (सामान्य) है। इसके विपरीत, बौद्धों का कहना था कि विशेष से पृथक् होकर सामान्य की कोई सत्ता नहीं है, अतः शब्द का वाच्य या संकेतक समष्टि न होकर व्यष्टि ही है। बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि शब्द का मुख्य कार्य 'अन्य की व्यावृत्ति' या अन्यापोह है, अतः उसका वाच्य विशेष ही होता है। जैन–दार्शनिकों ने इन दोनों परस्पर विरोधी मतों का समन्वय करते हुए कहा है कि शब्द का वाच्य, जात्यान्वित् व्यक्ति होता है। शब्द न तो एकान्त रूप से 'सामान्य' या 'जाति' का संकेतक है और न एकान्त रूप से 'विशेष' या 'व्यक्ति' का संकेतक है, अपितु वह सामान्य–युक्त–विशेष का या जात्यान्वित–व्यक्ति का संकेतक है। जैनदर्शन के अनुसार, शब्द सामान्य का संकेतक है या विशेष का – यह प्रश्न ही गलत है, यह प्रश्न तभी सम्भव है, जब सामान्य और विशेष एक–दूसरे से पूर्णतः स्वतंत्र सत्ताएं हों। जैनदर्शन के अनुसार, सामान्य और विशेष अथवा जाति और व्यक्ति विचार के स्तर पर पृथक्–पृथक् हो सकते हैं, किन्तु सत्ता के स्तर पर वे पृथक्–पृथक् नहीं हैं। व्यक्ति से भिन्न न तो जाति होती है और न सामान्य या जाति से रहित व्यक्ति ही। मनुष्यत्व मनुष्यों से पृथक् नहीं देखा जाता है। यहाँ भी जैन–दार्शनिक दो परस्पर विरोधी मतों का समन्वय करके चलते हैं। शब्द और उसके वाच्यार्थ के सन्दर्भ में तद्रूपता या तादात्म्य–सम्बन्ध या तदुत्पत्ति–सम्बन्ध को अस्वीकार करके वाच्य–वाचक–सम्बन्ध को ही स्वीकार किया है।

नित्या–अनित्या–सम्बन्ध

शब्द अर्थ के सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि शब्द और अर्थ में नित्य–सम्बन्ध है या अनित्य–सम्बन्ध है ? मीमांसक–दार्शनिक शब्द और अर्थ में नित्य–सम्बन्ध मानते हैं। इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिक शब्द और अर्थ में अनित्य–सम्बन्ध मानते हैं। इस सम्बन्ध में जैन–दार्शनिकों का कहना यह है कि शब्द अपने–आप में नित्य नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, किन्तु जहाँ तक शब्दार्थ में शब्द और उसके अर्थ का

सम्बन्ध है, वह न तो एकान्तनित्य है और न एकान्त–अनित्य है। शब्दों के अर्थ में परिवर्तन तो होता है, किन्तु कभी–कभी एक ही शब्द कालक्रम में वर्षों तक उसी अर्थ का वाचक भी बना रहता है, अतः शब्द और अर्थ में नित्यानित्य–सम्बन्ध है।

वस्तुतः, शब्दार्थ–सम्बन्ध को लेकर जैन–दार्शनिकों ने विरोधों में समन्वय किया है। उन्होंने स्फोटवाद और अपोहवाद – दोनों की समीक्षा की है और उन दोनों की समीक्षा के उपरान्त जैन–दर्शन के आकृतिवाद की स्थापना और इस प्रकार शब्द और अर्थ को लेकर विरोधी मतों का समाहार किया है, जिसे हम अग्रिम पृष्ठों पर दे रहे हैं–

स्फोटवाद और उसकी समालोचना

स्फोटवाद पूर्वपक्ष–

भाषा–दर्शन के क्षेत्र में स्फोटवाद वैयाकरणिकों की एक प्रमुख अवधारणा है। व्युत्पत्ति के अनुसार, जिससे अर्थ–प्रतीति हो, उसे स्फोट कहते हैं (स्फुटति अर्थोयस्मात् स स्फोटः)। वस्तुतः, पद या वाक्य को सुनकर पद या वाक्य के वाच्यार्थ का जो एक समन्वित समग्र चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है, वही स्फोट है। स्फोट पद या वाक्य के वाच्यार्थ को प्रकट करनेवाला तत्त्व है। वैयाकरणिकों के अनुसार, पद या वाक्य के वाच्यार्थ का बोध वर्ण–ध्वनियों से नहीं होता, अपितु वर्णों की उन ध्वनियों के पूर्ण होने पर स्वतः ही प्रकट होता है। 'गो' शब्द का वाच्यार्थ गकार, ओकार और विसर्जनीय के योग से बनी हुई वह ध्वनि नहीं है, जो श्रोतृ से सुनाई देती है, अपितु इन ध्वनियों के श्रवण के साथ जन्मा एक मानसबोध है। इसे हम बुद्ध्यर्थ भी कह सकते हैं। पतंजलि ने इस बात को एक उदाहरण से भी स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि पद या वाक्य के अन्तिम वर्ण का उच्चारण होते ही वस्तु का जो अखण्ड चित्र सामने आ जाता है, वही स्फोट है। उनके अनुसार, ध्वनि अनित्य है, वह उत्पन्न होकर नहीं रहती है, अतः वह अर्थबोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि वह वाच्यार्थ के संकेतकाल में नष्ट हो जाती है। वस्तुतः, ध्वनि को सुनकर जो

अर्थबोध होता है, वही स्फोट है। दूसरे शब्दों में, जिससे अर्थ का प्रकटन होता है, वही स्फोट है और यह स्फोट शब्द–ध्वनि से भिन्न है।

शब्द के दो पक्ष हैं– (1) ध्वनि और (2) स्फोट। ध्वनि क्रमशः होती है, प्रत्येक वर्ण की ध्वनि से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार के सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से एक मानसिक–पद की प्रतीति उत्पन्न होती है, इसी का नाम पद–स्फोट है। इसी प्रकार, वाक्य के सन्दर्भ में भी अन्तिम पद के श्रवण से एक मानसिक–वाक्य की प्रतीति होती है, यही वाक्यस्फोट है। स्फोट वाच्यार्थ का आन्तरिक या बौद्धिक–पक्ष है। न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य प्रभाचन्द्र भी वैयाकरणिकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, क्योंकि वे ध्वनिरूप हैं, किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है। अर्थ की प्रतीति में हेतु वर्ण–ध्वनि नहीं, अपितु स्फोट नामक तत्त्व ही है। ध्वनि तो अनित्य है, जबकि स्फोट नित्य है। स्फोट को यदि अनित्य माना जायेगा, तो उससे कालान्तर और देशान्तर में 'गो' शब्द को सुनकर उसके वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि संकेतरहित शब्द से अर्थ की प्रतीति होना असंभव है। अतः, जो एक नित्य अखण्ड स्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति में हेतु है, वर्णध्वनि उसको व्यक्त करके नष्ट हो जाती है।

स्फोटवाद का खण्डन

(1) स्फोटवाद के खण्डन में जैन–आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि यदि पूर्व वर्णों के संस्कारों से सहकृत अन्तिम वर्ण पद के वाच्यार्थ का ज्ञान कराता है, तो फिर स्फोट की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि स्फोट के अभाव में भी अर्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है। इसके लिए स्फोट की कल्पना आवश्यक नहीं लगती। जब दृष्ट कारण से ही अर्थात् पूर्व वर्णों के संस्कार की स्मृति तथा अन्तिम वर्ण के श्रवण से कार्य अर्थात् अर्थबोध हो सकता है, तो फिर अदृष्ट कारणान्तर के रूप में स्फोट की कल्पना करना बुद्धियुक्त नहीं है।

(2) पुनः, यदि समष्टि या व्यष्टि–रूप में वर्ण अर्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ है, तो फिर वे स्फोट को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं माने

जा सकते। पुनः, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि वर्णों के द्वारा उत्पन्न होनेवाला यह संस्कार स्वयं स्फोट है, या स्फोट का एक धर्म है। यदि वर्णों के संस्कारों का ही नाम स्फोट है, तो फिर स्फोट को वर्णों से उत्पन्न हुआ मानना होगा और ऐसी स्थिति में वह नित्य नहीं होगा। यदि यह संस्कार स्वयं स्फोटरूप न होकर स्फोट का ही धर्म है, तो फिर प्रश्न यह उठता है कि वह स्फोट से भिन्न है अथवा अभिन्न है। यदि हम संस्कारों को स्फोट का धर्म मानकर स्फोट से अभिन्न मानते हैं, तो वर्णों के द्वारा उस धर्म की उत्पत्ति को स्फोट की ही उत्पत्ति माननी होगी और ऐसी स्थिति में स्फोट अनित्य हो जाएगा। यदि संस्कारों से उत्पन्न वह धर्म स्फोट से भिन्न है, तो उसका पारस्परिक–सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और ऐसी स्थिति में वर्ण–ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति मानना संभव नहीं होगा। पुनः, अभिन्न होने की दशा में यदि वर्ण–ध्वनि अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती, तो फिर स्फोट भी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है।

पुनः, स्फोट का सद्भाव भी किसी–किसी आधार पर सिद्ध नहीं होता है। चेतन सत्ता के सिवाय अन्य किसी तत्त्व में वाच्यार्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य नहीं है। यदि चिदात्मा को ही स्फोट कहें, तो उसमें जैनों को भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि जिसमें अर्थ स्फुट अर्थात् प्रकटित होता है, उसे स्फोट कहते हैं। पुनः, चिदात्मा के सिवाय स्फोट नाम के किसी स्वतन्त्र तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है; अतः शब्द में ही वाच्यार्थ को स्पष्ट करने की सामर्थ्य मान लेना चाहिए। वाच्यार्थ के स्पष्टीकरण के लिए अन्य किसी स्फोट नामक स्वतन्त्र तत्त्व को मानना आवश्यक नहीं है।

न केवल जैन, अपितु मीमांसक और नैयायिक भी स्फोटवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। कुमारिल ने स्फोटवाद का खण्डन करके वर्णवाद की स्थापना की है। शब्द वर्णों की संहति है और वे ही अर्थाकार को प्रकट करते हैं। शब्दध्वनि में पूर्व–पूर्व वर्णों की ध्वनि को निरर्थक नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः, वर्णों के संस्कार ही समष्टिरूप से शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान कराते हैं, अतः स्वतन्त्र रूप से शब्दाकार अर्थात् स्फोट को मानना आवश्यक नहीं है। जैनों की भी यह मान्यता है कि सापेक्ष वर्णों की संहति से पद और सापेक्ष पदों की संहति से वाक्य बनता है, जो स्वतः

ही अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट कर देता है, अतः स्फोट वर्ण या पद–संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

अपोहवाद और उसका खण्डन बौद्धों का पूर्वपक्ष–

शब्द का वाच्यार्थ क्या है–यह प्रश्न भारतीय–दार्शनिकों के लिए विवादास्पद रहा है। बौद्ध–दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपोहवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपोह का तात्पर्य अतद्–व्यावृत्ति या अन्य–व्यावृत्ति है। शब्द के वाच्यार्थ को अन्य शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् करना अर्थात् अन्यापोह ही अपोह है। अपने वाच्यार्थ का अन्य वाच्यार्थ से पृथक्कीकरण ही शब्द की अपोहात्मकता है, उदाहरण के लिए – 'गाय' शब्द यह बताता है कि उसका वाच्यार्थ महिष, अश्व, पुरुष आदि नहीं है। इस प्रकार, शब्द का कार्य अपने अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों का निषेध करना है।

बौद्धों के अनुसार, शब्द का वाच्यार्थ न तो व्यक्ति है और न जाति; क्योंकि उनके अनुसार, ऐसी कोई यथार्थ (Real) वस्तु ही नहीं है, जिसमें शब्द का संकेत ग्रहण हो सके। स्वलक्षण वस्तु मात्र क्षणजीवी है और द्रव्य, नाम, जाति आदि केवल भाषागत व्यवहार हैं, यथार्थ वस्तुएँ नहीं हैं। शब्द और शब्द का वाच्यार्थ केवल विकल्प या कल्पना है। उसकी मान्यता है कि शब्द से विकल्प और विकल्प से शब्द जन्म लेते हैं। उनके अनुसार, व्यावहारिक–जगत् को यथार्थ मानने का मुख्य आधार भाषा ही है; क्योंकि भाषायी–व्यवहार में शब्द को बाह्य वस्तु–जगत् का संकेतक माना जाता है। शब्द विकल्प के सहचारी होने के कारण व्यवहार में उपयोगी होते हैं, किन्तु उनका अर्थ वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होता है। यदि वस्तु क्षणिक् और स्वलक्षण अर्थात् अद्वितीय स्वभाव से युक्त है, तो शब्द उनका संकेतक नहीं हो सकता; क्योंकि संकेत ग्रहण करने के काल में वह वस्तु ही नहीं रहेगी, अतः शब्द का वाच्यार्थ क्षणजीवी–विशेष नहीं हो सकता। यद्यपि शब्द का वाच्यार्थ सामान्य हो सकता है, किन्तु सामान्य की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है। शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ न तो विशेषात्मक हो सकता है और न सामान्यात्मक। क्षणजीवी–विशेष में संकेत–ग्रहण संभव

नहीं है और सामान्य अभिलाप्य होकर भी वास्तविक नहीं होता। सामान्य को वास्तविक मानने में अनेक कठिनाइयां हैं।

प्रथमतः तो, वह खर–विषाण (खरगोश के सींग) के समान असत् है और असत् होने से उसमें अर्थक्रियाकारी–शक्ति भी नहीं है। बौद्धों के अनुसार, अनेक गायों में अनुस्यूत एक नित्य और निरंश गोत्व अयथार्थ है, क्योंकि विभिन्न देशों (स्थानों) और विभिन्न कालों में स्थित व्यक्तियों अर्थात् गायों में एक साथ एक ही गोत्व का पाया जाना अनुभव से विरुद्ध है। जिस प्रकार छात्रसंघ का छात्रों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है, वह एक प्रकार की कल्पना है और सम्बन्धित व्यक्तियों की बुद्धि का विकल्प है, उसी तरह गोत्व, मनुष्यत्व आदि भी बुद्धि–विकल्प या कल्पना–प्रसूत हैं, बाह्य सत् वस्तुएँ नहीं हैं। बौद्धों के अनुसार, यह विकल्पित सामान्य ही शब्द का वाच्य है और यह अन्यापोहात्मक या अतद्–व्यावृत्ति–रूप है, अतः शब्द अर्थ (बाह्य वस्तु) का वाचक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य अर्थ (बाह्यवस्तु) भिन्न है और शब्द गोचर अर्थ (तात्पर्य=Meaning) भिन्न है, क्योंकि अन्धा व्यक्ति बाह्य अर्थ (वस्तु) को देख नहीं पाता है, किन्तु वह शब्द से उसके अर्थ (तात्पर्य=Meaning) को जान लेता है। पुनः, अग्नि का स्पर्श होने से जिस तरह के दाह का अनुभव होता है, वह दाह और दाह शब्द को सुनकर जिस तरह का अर्थबोध होता है, वह अलग–अलग है, अतः शब्द का वाच्य इन्द्रियग्राह्य अर्थ (बाह्यवस्तु) नहीं है। पुनः, यह शब्द इस अर्थ या वस्तु–विशेष का वाचक है – इस प्रकार का कथन भी क्षणजीवी स्वलक्षणयुक्त विशेष में संभव नहीं है, क्योंकि संकेत–ग्रहणकाल तक तो वह नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार 'गो' शब्द का 'अश्व' अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए 'गो' शब्द 'अश्व' अर्थ (वस्तु) का ज्ञान कराने में असमर्थ है, उसी प्रकार स्वलक्षणयुक्त बाह्य अर्थ (वस्तु) के साथ भी शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः क्षणजीवी स्वलक्षणयुक्त विशेष अर्थ शब्द का विषय नहीं हो सकता। अतः बौद्धों के अनुसार, शब्द न सामान्य के वाचक हैं और न विशेष के, वे केवल अतद्–व्यावृत्ति के द्वारा विकल्पित विषय को ही सूचित करते हैं, बाह्य वस्तु को नहीं, यही उनका अपोहवाद है।

अपोहवाद की समालोचना

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में जैनों ने बौद्धों के इस अपोह–सिद्धान्त का विविध आधारों पर खण्डन किया है –

(1) बौद्धों के अपोहवाद के सन्दर्भ में जैनों का प्रथम आक्षेप यह है कि शब्द का विषय केवल विकल्पित सामान्य नहीं, अपितु यथार्थ सामान्य है। यह सत्य है कि व्यक्तियों से पृथक् किसी सामान्य को सत्ता नहीं है, सामान्य व्यक्तिनिष्ठ है, किन्तु फिर भी वह यथार्थ है, काल्पनिक नहीं। जैनों के अनुसार, वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तु के कुछ धर्म अन्य वस्तुओं के सदृश होते हैं और कुछ विदृश। इन सदृश धर्मों को ही जैनों ने सामान्य माना है। वे यह मानते हैं कि सामान्य अनेकानुगत न होकर प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ है। दूसरे शब्दों में, सामान्य नाम का कोई एक तत्त्व नहीं है, जो कि सभी व्यक्तियों में अनुस्यूत है, अपितु व्यक्तियों के अलग–अलग सदृश गुण–धर्म ही सामान्य हैं, जोकि प्रत्येक व्यक्ति में उपस्थित रहकर उसे एक वर्ग या जाति की सदस्य बनाते हैं। सादृश्यता व्यक्ति का धर्म है और व्यक्ति के धर्म के रूप में वह यथार्थ है। जिस तरह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय जात्यान्वित व्यक्ति या सामान्यविशेषात्मक वस्तु होती है, उसी तरह शब्द का विषय भी सामान्य–विशेषात्मक यथार्थ वस्तु ही है, विकल्पित वस्तु नहीं।

(2) यदि शब्द का वाच्यार्थ विकल्पित वस्तु है, तो ऐसी स्थिति में कथन की सत्यता और असत्यता का निर्धारण संभव ही न होगा, क्योंकि कथन की सत्यता और असत्यता का आधार उसके वाच्यार्थ की यथार्थ आनुभविक–जगत् में प्राप्ति और अप्राप्ति ही है। जिस कथन के अनुरूप बाह्य–जगत् में वस्तु उपलब्ध हो, वह सत्य माना जाता है और जिस कथन के अनुरूप बाह्यार्थ प्राप्त न हो, वह मिथ्या माना जाता है। बौद्धों के अनुसार, ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार उसकी अविसंवादिता है और इस अविसंवादिता के निर्णय का आधार बाह्यार्थ को छोड़कर अन्य कोई दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि जिस कथन के अनुरूप बाह्यार्थ (वस्तु) प्राप्त नहीं होते हैं, उन्हें ही हम विसंवादी या मिथ्या कहते हैं। अतः, शब्द का

वाच्यार्थ यथार्थ वस्तु हो सकती है, विकल्पित वस्तु नहीं।

(3) बौद्धों के इस अपोहवाद के खण्डन में जैनों का एक तर्क यह भी है कि यदि आप सविकल्प बुद्धि में जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, उसे ही अन्यापोह मानते हैं, तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह प्रतिबिम्ब किसका है – स्वलक्षण का या सामान्य का ? वह स्वलक्षण का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि स्वलक्षण तो व्यावृत्ताकार अर्थात् निषेध–रूप है और प्रतिबिम्ब अनुगत, एकरूप या विधिरूप है। पुनः, यदि यह स्वलक्षण का प्रतिबिम्ब है, तो इसका स्वलक्षण के साथ तादात्म्य भी होगा, किन्तु आप स्वलक्षण के साथ शब्द का तादात्म्य नहीं मानते हैं। यदि यह प्रतिबिम्ब सामान्य का है, तो सामान्य की भी तो आपके मतानुसार सत्ता नहीं है और जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है। यदि बौद्ध– दार्शनिक इसके प्रत्युत्तर में यह मानें कि अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने से बाह्य में प्रवृत्ति होती है, तो उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है। यदि इसके विपरीत, बाह्यार्थ को ग्रहण करने को ही अर्थाध्यवसाय कहते हैं, तो इससे जैन–मत की ही पुष्टि होती है।

(4) यदि शब्द का कार्य अन्य या अतद् की व्यावृत्ति ही है, तो वह केवल निषेधरूप होगा, जबकि प्रत्येक वस्तु में अस्तित्वमूलक और नास्तित्वमूलक – दोनों प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। जैनों के अनुसार, स्वचतुष्ट्य के विधान और परचतुष्ट्य के निषेध से ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है। यदि शब्द का वाच्य वस्तु है, तो हमें शब्द के वाच्यार्थ के निर्धारण की प्रक्रिया को विधिमुख और निषेधमुख – दोनों ही मानना होगा, क्योंकि प्रत्येक विधान निषेध की अपेक्षा करता है और प्रत्येक निषेध विधान की अपेक्षा करता है, निषेध बिना विधान के, विधान बिना निषेध के पूर्ण नहीं है, अतः बौद्धों को अपोह में विधिमूलक पक्ष को स्वीकार करना होगा, अर्थात् यह मानना होगा कि शब्द का कार्य न केवल अतद् या अन्य की व्यावृत्ति है, अपितु वस्तु के तद्रूप का प्रस्तुतिकरण भी है, अर्थात् शब्द वस्तु के स्व–स्वरूप का प्रतिपादक है।

(5) अपोह वस्तुतः निषेधमूलक नहीं हो सकता है। व्यवहार के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि 'गाय' शब्द को सुनकर हम सीधे 'गाय' नामक

वस्तु का बोध करते हैं। ऐसा नहीं होता कि हम, यह महिष नहीं है, अश्व नहीं है आदि निषेध करते हुए 'गाय' शब्द के वाच्यार्थ तक पहुँचते हैं। यद्यपि 'गाय' में अगो निवृत्ति पायी जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह भी है कि सब गायों में एक समान धर्म है और इस सादृश्यमूलक धर्म को विधिमूलक प्रक्रिया से ही जाना जा सकता है।

(6) पुनः, शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि दोनों एक ही हैं। जैनों ने उन दोनों की भिन्नता को भी स्वीकार किया, लेकिन यह भिन्नतापूर्ण भिन्नता नहीं है, कथंचित् भिन्नता ही है। जैन भी गाय नामक वस्तु और गाय शब्द में तादात्म्य नहीं मानते हैं, वे दोनों में भिन्नता मानकर भी दोनों में वाच्य–वाचक–सम्बन्ध मानते हैं। दो भिन्न एवं स्वतन्त्र वस्तुएँ भी एक–दूसरे से सम्बन्धित हो सकती हैं, जैसे – पति–पत्नी। अतः, शब्द और अर्थ में कथंचित्–अभेद और कथंचित्–भेद मानना ही उचित है और इसी से उनका वाच्य–वाचक–सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(7) पुनः, अन्यापोह या अतद्–व्यावृत्ति के बौद्धों के इस सिद्धान्त में अन्योन्याश्रय–दोष भी आता है, क्योंकि 'अगो' के व्यवच्छेद (निषेध) से 'गो' की प्रतिपत्ति होती है और 'गो' के व्यवच्छेद (निषेध) से 'अगो' की प्रतिपत्ति होती है और यह दोहरा निषेध विधिरूप ही सिद्ध होता है। अतद् के निषेध से जिसकी उपलब्धि होती है, वह तो विधिरूप ही होगा।

(8) पुनः, जिसे 'गो' शब्द का अर्थ ज्ञात न हो, वह 'अगो' शब्द का अर्थ भी नहीं जान पायेगा, अर्थात् व्यवच्छेद (निषेध) के लिए भी विधिरूप ज्ञान आवश्यक है।

(9) पुनः, अनेक स्थितियों में शब्दों के एक–दूसरे का परस्पर पूर्ण निषेध करने वाले ऐसे दो व्यावर्त्तक–वर्ग भी नहीं बन पाते हैं, उदाहरण के लिए – 'सर्व' शब्द से परिहृत 'असर्व' शब्द निरर्थक होता है।

(10) यदि सभी शब्दों का वाच्यार्थ अतद्व्यावृत्ति या निषेध ही है, तो ऐसी स्थिति में सभी शब्द निषेध या व्यावृत्ति के वाचक होने से पर्यायवाची हो जाएंगे, क्योंकि उनके वाच्यभूत विषय के तुच्छ स्वभाव होने के कारण उनमें कोई भी भेद नहीं रहेगा। स्वरूपतः एक ही स्वभाव के अर्थात् निषेध

ा–मूलक होने के कारण उनमें कोई भेद नहीं है और उनके वाच्य–विषय के विकल्पित होने के कारण भी उनमें कोई भेद नहीं होगा और ऐसा होने पर विशेषण– विशेष्य–भेद, अतीत–अनागत आदि काल–भेद, स्त्री–पुरुषादि लिंग–भेद, गो, महिष आदि जाति–भेद, एकवचन, द्विवचन आदि वचन–भेद भी नहीं रह जाएंगे। पुनः, यदि बौद्ध अपोह में भेद स्वीकार करेंगे, तो फिर वह अपोह भी विकल्परूप न रहकर वस्तुरूप हो जाएगा और इस प्रकार प्रकारान्तर से जैन–मत का ही समर्थन होगा। डा. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का अभिमत है कि अपोह केवल निषेधमूलक नहीं है। वे लिखते हैं – अपोह में प्रत्यक्ष और कल्पना, वस्तु और अवस्तु, विधि और निषेध – इनका एक जटिल मिश्रण है।

आकृतिवाद और जैनदर्शन

शब्द का वाच्यार्थ सामान्य है अथवा विशेष – इस चर्चा के प्रसंग में हमने देखा था कि जैन–दार्शनिक शब्द के वाच्यार्थ को जात्यान्वित–व्यक्ति/सामान्यान्वित–विशेष मानते हैं। यद्यपि यह प्रश्न फिर भी समाधान की प्रतीक्षा करता है कि यह सामान्यान्वित–विशेष क्या है ? यह वस्तु है या बुद्ध्यर्थ। बुद्ध्यर्थ से तात्पर्य मानसिक–बिम्ब या चित्त–विकल्प से है। जहाँ न्यायवैशेषिक उसे वस्तु मानते हैं, वहाँ वैयाकरणिक और किसी सीमा तक बौद्ध उसे बुद्ध्यर्थ या बुद्धि आकार मानते हैं। जैन इन दोनों के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, उनके अनुसार, शब्द का वाच्यार्थ न तो बुद्ध्याकार या ज्ञानाकार या चित्त–विकल्प है और न बाह्यवस्तु, अपितु शब्द– श्रवण से वस्तु की चेतना में उद्‌भूत आकृति है। साकार ज्ञानवाद के आधार पर यह सिद्धान्त आकृतिवाद कहा जाता है। शब्दों के श्रवण या चिन्तन के माध्यम से हमारी चेतना में शब्द द्वारा वाच्य वस्तु की एक आकृति उभरती या प्रतिबिम्बत होती है और यही आकृति हमारे संवेदन या बोध का विषय होती है। जब हम 'गाय' शब्द सुनते हैं, तो चेतना में गाय की आकृति का संवेदन या बोध होता है, जोकि अश्व की आकृति से भिन्न होता है। इसी आकृति के सहारे तद्रूप वस्तुं में हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः, शब्द का वाच्यार्थ अनुभवगम्य वस्तु की एक आकृति

है। 'गाय' शब्द के श्रवण से गलकम्बलयुक्त पशु की आकृति चेतना में उभरती है और उसके पश्चात् तद्रूप 'गाय' वस्तु में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जैनों के अनुसार, यद्यपि शब्द से संकेत–ग्रहण यथार्थ वस्तु (Real object) में होता है, किन्तु शब्द जिसका पर्याय है, वह आकृति है और यह विशेषान्वित ही है।

जैन इसके साथ यह भी मानते हैं कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण या चेतना में शब्द के विषय की आकृति का निर्माण ज्ञान और प्रवचन के द्वारा होता है। जब माता–पिता, गुरु आदि गाय शब्द का उच्चारण करके गाय नामक वस्तु दिखाते हैं, तो हम जान जाते हैं कि गाय शब्द का वाच्यार्थ वह पशु है, जो गलकम्बलयुक्त है। पुनः, गाय शब्द का वाच्य–विषय एक यथार्थ वस्तु है, किन्तु उसका वाच्यार्थ गाय की आकृति है। जैन वाच्य–विषय और वाच्यार्थ में भेद करते हैं। शब्द का वाच्य–विषय बाह्य वस्तु है किन्तु उसका वाच्यार्थ या तात्पर्य आकृति है। आकृति ही ऐसा तत्त्व है, जो एक ओर बाह्यार्थ (Object) से तथा दूसरी ओर वाच्यार्थ (Meaning) से सम्बन्धित होता है।

न्याय–दार्शनिकों ने इस आकृतिवाद के सिद्धान्त की निम्न आलोचना की है। प्रथमतः, चूँकि व्यक्ति अनेक हैं, इसलिए आकृति अनेक होंगी। पुनः, एक व्यक्ति की आकृति दूसरे व्यक्ति की आकृति से भिन्न होती है। एक शब्द परस्पर भिन्न अनेक आकृतियों का वाचक नहीं हो सकता है। पुनः, किसी भी व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह उस जाति की सभी व्यक्तियों की आकृति को जान ले, क्योंकि विशेष या व्यक्ति अनेक और अलग–अलग हैं, इसलिए उनकी कोई एक आकृति नहीं हो सकती। एक सफेद गाय की आकृति काली गाय की आकृति से अवश्य भिन्न होगी। अतः, आकृतिवाद को मानने पर शब्द के अनेक वाच्यार्थ मानने होंगे। पुनः, व्यक्ति में ही क्रियाकारित्व हो सकता है, आकृति में अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं, उदाहरण के लिए – जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गाय लाने या हटाने के लिए कहता है, तो दूसरा व्यक्ति गाय के चित्र या उसकी मूर्त्ति को नहीं लाता है। अतः, नैयायिकों का कथन है कि आकृतिवाद की यह अवधारणा समुचित नहीं है। जैनों ने भी एकान्तिक –

आकृतिवाद की आलोचना की है।

वस्तुतः, आकृतिवाद का यह सिद्धान्त भारतीय–परम्परा की दृष्टि से नैयायिकों और वैयाकरणिकों की विचारधारा के समन्वय का प्रयत्न है। नैयायिक शब्द का वाच्यार्थ वस्तु मानते हैं और वैयाकरणिक तथा किसी सीमा तक बौद्ध उसे बुद्ध्याकार मानते हैं। जैन अपने आकृतिवाद में इन दोनों का समन्वय इस प्रकार करते हैं कि एक ओर उसमें वाच्यार्थ के चैतसिक–पक्ष या बुद्ध्याकार का ग्रहण हो जाता है, तो दूसरी ओर, वह बुद्ध्याकार काल्पनिक न होकर के यथार्थ होता है, क्योंकि आकृति सदैव ही किसी अनुभूत यथार्थ वस्तु की ही होती है। आकृतिवाद सामान्य के स्वरूप के संबंध में नामवाद और वस्तुवाद के बीच की स्थिति है। वह यह मानता है कि सामान्य जिसे मीमांसक शब्द का वाच्य मानते हैं, वह न तो केवल नाम (मानसिक कल्पना) है और न विशेष या व्यक्ति से पृथक् उसकी कोई स्वतंत्र यथार्थ सत्ता ही है। वह एक ऐसा मानसिक–बिम्ब या आकृति है, जो विभिन्न विशेषों/व्यक्तियों की सादृश्यता के आधार पर बनती है। वह मानसिक होते हुए भी काल्पनिक या अयथार्थ नहीं है। जैन इसे ही शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं, साथ ही, यह मानते हैं कि इस आकृति के आधार पर, जिसमें संकेत–ग्रहण होता है, वह वास्तविक वस्तु–विशेष है। शब्द से जिस वस्तु–विशेष का ग्रहण होता है, वह अपनी वर्ग की वस्तुओं से कथंचित् सादृश्य रखती है और इसी सादृश्यता के आधार पर हम उन सभी सादृश्य रखनेवाली वस्तुओं को एक ही शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं ।

जैनों का यह आकृतिवाद का सिद्धान्त विटगेन्स्टाइन के चित्र–सिद्धान्त (Picture theory) से किसी सीमा तक समानता रखता है। विटगेन्स्टाइन आरम्भ में यही मानते थे कि शब्द या कथन यथार्थ जगत् के चित्र हैं और भाषा हमें इन चित्रों के माध्यम से यथार्थ जगत् से सम्बन्धित करती है। यद्यपि आगे चलकर उसने इस चित्र–सिद्धान्त के स्थान पर उपयोग–सिद्धान्त (Use theory) को अधिक उपयुक्त माना और यह बताया की शब्दों का वाच्यार्थ उनके श्रवण से उद्भाषित होने वाली आकृति के स्थान पर उनके उपयोग–संदर्भ पर निर्भर करता है। शब्द का

वाच्यार्थ क्या है – यह इस बात पर निर्भर है कि उसे किस सन्दर्भ में और किस प्रकार प्रयुक्त किया गया है। विटगेन्स्टाइन ने अपने परवर्ती ग्रन्थ Philosophical Investigation में इस उपयोग–सिद्धान्त पर अधिक बल दिया है।

जहाँ जैन–दार्शनिक अवधारणाओं का प्रश्न है, हमें विटगेन्स्टाइन के इन दोनों ही सिद्धान्तों के पूर्व बीज उनमें उपस्थित मिलते हैं। एक ओर, वे शब्द का वाच्यार्थ आकृति मानकर विटगेन्स्टाइन के चित्र–सिद्धान्त का समर्थन करते हैं, तो दूसरी ओर, शब्द के वाच्यार्थ के निर्धारण में अभिसमय–परम्परा या प्रयोग–सन्दर्भ को स्थान देकर विटगेन्स्टाइन के उपयोग–सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं। वस्तुतः, मेरी दृष्टि में ये दोनों अवधारणाएं एक–दूसरे की विरोधी नहीं हैं। शब्द को सुनकर हमारी चेतना में एक आकृति उभरती है, किन्तु किस शब्द के किस प्रकार प्रयोग से किस प्रकार की आकृति उभरेगी, इसका निर्धारण अभिसमय/परम्परा या प्रयोग– सन्दर्भ ही निश्चित करेगा। वस्तुतः, शब्द के वाच्यार्थ के सन्दर्भ में जैनों का आकृतिवाद का यह सिद्धान्त इस संबंध में प्रचलित विभिन्न मतवादों के समन्वय का एक प्रयास है। जैनों ने अपने अनेकान्तिक–दृष्टि के आधार पर शब्द के वाच्यार्थ को लेकर तत्कालीन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है, यही उनके शब्द–दर्शन की विशेषता है।

ज्ञान का प्रामाण्य

ज्ञान की प्रामाणिकता के निर्णय को लेकर भारतीय–परम्परा में दो प्रकार की विचार–धाराएँ प्रचलित रही हैं – 1. स्वतः प्रामाण्यवाद और 2. परतः प्रामाण्यवाद। बौद्ध स्वतः–प्रामाण्यवाद मानते हैं और नैयायिक परतः प्रामाण्यवाद मानते हैं। स्वतः–प्रामाण्यवाद यह मानता है कि ज्ञान की प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय स्वतः ही, अर्थात् उसी ज्ञान के द्वारा हो जाता है, क्योंकि प्रमाण–लक्षण में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो ज्ञान अन्य प्रमाणों या ज्ञानों से बाधित नहीं होता है, वह ज्ञान स्वतः ही प्रमाण रूप होता है। ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए

बाह्यार्थ के पुनः ज्ञान की या ज्ञानानन्तर–ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। उसकी प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय स्वयं उसी ज्ञान से हो जाता है, यही स्वतः–प्रामाण्यवाद है, जबकि नैयायिक आदि दूसरे कुछ दर्शन यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता का निर्णय बाह्यार्थ के ज्ञानानन्तर–ज्ञान से होता है, इसे परतः–प्रामाण्यवाद कहा जाता है। इन दोनों अवधारणाओं का समन्वय करते हुए जैन–दार्शनिक कहते हैं– ज्ञान की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में स्वतः–प्रामाण्यवाद और परतः–प्रामाण्यवाद–दोनों दर्शन एकांगी है। ज्ञान की प्रामाणिकता के निर्णय के सम्बन्ध में हमें उस स्थिति में जाना होगा, जिस स्थिति में वह ज्ञान हुआ है। यदि ज्ञाता प्रबुद्ध है, अर्थात् उसे उस पदार्थ का स्वरूप–ज्ञान पूर्व अनुभूत है, तो उसे उस ज्ञान के साथ ही उसकी प्रामाणिकता का निर्णय भी स्वतः ही हो जाता है, यही स्वतः–प्रामाण्यवाद है। दूसरे शब्दों में, अनुभवदशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय स्वतः होता है। इसके विपरीत, पूर्व अनुभव के अभाव में ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय बाह्यार्थ के ज्ञानानन्तर–ज्ञान या अन्य ज्ञान से होता है, इसे ही परतः प्रामाण्यवाद कहते हैं। संक्षेप में, जैन–दर्शन के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय अनुभवदशा में स्वतः ही होता है, जबकि पूर्व अनुभव के अभाव में ज्ञान के प्रामाण्य का निर्णय बाह्यार्थ के ज्ञानानन्तर अन्य ज्ञान से अर्थात् परतः–प्रामाण्य से होता है। प्रमाणनयतत्त्वालोक में कहा भी है–

प्रामाण्य निश्चयः स्वतः परतो वा

मीमांसक ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानते हैं और ज्ञान का अप्रामाण्य परतः मानते हैं, जबकि नैयायिक ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य–दोनों को ही परतः मानते हैं । बौद्धों के अनुसार, ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः होता है। जैनों के अनुसार, ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य– स्वतः भी होता है और परतः भी होता है। अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में वह परतः होता है ।

विभज्यवाद, निक्षेप, नय, अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी

जैन–ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा की परिणति जैनदर्शन में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी में देखी जाती है, किन्तु इसके पूर्व

भी कुछ अवधारणाएं ऐसी रही हैं, जिनका उपयोग अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के विकास में हुआ है। इन सिद्धान्तों में विभज्यवाद का सिद्धान्त प्राचीनतम है। विभज्यवाद को समझाने के लिए भी पुनः नयवाद और निक्षेपवाद का जन्म हुआ। अंततः, अनेकान्तवाद को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए हमें विभज्यवाद, नयवाद और निक्षेपवाद को भी समझना होगा।

विभज्यवाद –

विभज्यवाद एक प्राचीनतम अवधारणा है, जिसका उल्लेख जैन और बौद्ध – दोनों ही दर्शनों के मूलभूत ग्रन्थों में पाया जाता है। विभज्यवाद से ही शब्द के अर्थ को समझने के लिए निक्षेप–सिद्धान्त का और कथन या वाक्य के अर्थ को समझने के लिए नय–सिद्धान्त का विकास हुआ। आगमिक–ग्रन्थों, विशेष रूप से भगवतीसूत्र और समयसार आदि ग्रन्थों में नयों में निश्चयनय और व्यवहारनय का तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय का ही उल्लेख मिलता है, इन्हीं से आगे चलकर वस्तु के सामान्य और विशेष पक्षों को लेकर नैगम आदि सप्तनयों का विकास हुआ है। ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ में एवं षट्खण्डागम मूल में एवं उसकी धवला टीका में भी पांच नयों का ही उल्लेख है। आगे चलकर, सवार्थसिद्धिमान्य पाठ में शब्दनय के दो अन्य विभागों को जोड़कर नैगमादि सात नय बनाये गये हैं।

अग्रिम पृष्ठों में हम क्रमशः विभज्यवाद, निक्षेपवाद, नयवाद, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी की चर्चा करेंगे।

विभज्यवाद

जैन–दर्शन में अनेकान्तवाद और बौद्ध–दर्शन में शून्यवाद के दार्शनिक–सिद्धान्तों के उद्भव एवं विकास के मूल में विभज्यवाद की अवधारणा रही हुई है। विभज्यवाद का सामान्य अर्थ है कि किसी भी प्रश्न का उत्तर उस प्रश्न का विश्लेषण करके ही देना चाहिए, अर्थात् प्रश्न क्या है? किसके सन्दर्भ में है? और किस परिप्रेक्ष्य में पूछा गया है? इन तथ्यों को समझे बिना किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहिए। बौद्ध–परम्परा

में अंगुत्तरनिकाय (खण्ड 2, पृष्ठ 47) में तथा जैन–परम्परा में सूत्रकृतांग (1/14/22) में यह स्पष्ट रूप से निर्देश दिया गया है कि साधु को विभज्यवाद का अनुसरण करके ही प्रश्नों के उत्तर देने चाहिए (विभज्यवायं वियागरेज्जा)। बौद्ध–परम्परा में विभज्यवाद का यह विवरण उदान (1/1/6/4), थेर–गाथा (1/106), सुत्तनिपात (50/3 ,51/2 और 51/10) आदि में भी मिलते हैं। बौद्ध–दर्शन में कहा गया है– किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के चार तरीके हो सकते हैं – (1) एकांशवाद – आंशिक रूप से या सापेक्ष रूप से उत्तर देना, (2) विभज्यवाद – प्रश्न के विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना, (3) प्रति–प्रश्नवाद – प्रतिप्रश्न करके उत्तर देना और (4) मौनवाद या स्थापनावाद – प्रश्न को उत्तर देने योग्य नहीं मानना। इन चार प्रकार के वादों में बुद्ध ने एकांशवाद को अस्वीकार करते हुए विभज्यवाद की स्थापना की थी और बताया कि प्रश्नों के उत्तर प्रश्न को विभाजित करके ही देना चाहिए, एकान्तिक रूप से उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि एकान्तिक उत्तर ही देना हो, तो उसके सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए उसका सापेक्ष या आंशिक–उत्तर ही देंना चाहिए, अर्थात् उसका सापेक्ष रूप से ही या किसी एक दृष्टिकोण के आधार पर ही उत्तर देना चाहिए, अर्थात् इस दृष्टिकोण से यह ऐसा है – ऐसा सापेक्ष उत्तर ही देना चाहिए। सामान्यतया, प्रश्न का विश्लेषण करके ही उत्तर देना चाहिए– यही विभज्यवाद है। विभज्यवाद का अर्थ है– विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना, इसके लिए भी जहाँ आवश्यक हो, वहाँ पूछने वाले से प्रति–प्रश्न भी किये जा सकते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण जैन–आगम भगवतीसूत्र में मिलता है, जहाँ श्राविका जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा था कि भगवान् सोना अच्छा है, या जागना ? इसका उत्तर देने हेतु प्रति–प्रश्न यह उठाया गया कि – किसका ? भगवान् महावीर ने इसका समाधान करते हुए कहा कि अधार्मिक–व्यक्तियों का सोना अच्छा है और धार्मिक व्यक्तियों का जागना अच्छा है। इस प्रकार, प्रति–प्रश्नवाद भी विषय को स्पष्ट रूप से समझने में आवश्यक होता है, किन्तु यह भी मूल में विभज्यवाद का ही एक रूप है। इसमें भी प्रश्नों के उत्तर विश्लेषणपूर्वक ही दिये जाते हैं। विभज्यवाद में एकान्तिक उत्तर का निषेध किया गया है

तथा यह बताया गया है कि किसी भी प्रश्न के उत्तर सापेक्ष–रूप में या आंशिक–रूप से प्रश्न का विश्लेषण करके ही दिया जाना चाहिए। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने प्रवाही–गुड़ के स्वाद एवं कौए के रंग के सम्बन्ध में इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार–नय के आधार पर अर्थात् अलग–अलग दृष्टिकोणों के आधार पर विभिन्न उत्तर दिये थे। यही सापेक्षिक–उत्तर देने की पद्धति आगे चलकर जैनदर्शन में नयवाद और स्याद्वाद के रूप में अभिव्यक्त हुई। यह सत्य है कि अनेक प्रश्नों का एकान्तिक–रूप से या विश्लेषणपूर्वक भी कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है, जैसे – मुर्गी पहले या अण्डा ? भगवान् बुद्ध ने ऐसे प्रश्नों को ठपनीय (स्थापनीय) कहा, अर्थात् कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका उत्तर सम्भव ही नहीं होता है। जैन–दर्शन में सप्तभंगी में इसे ही अवक्तव्य–भंग कहा गया है।

इस प्रकार, विभज्यवाद में एकान्तिक–उत्तरों को भी पूर्वतः अस्वीकार तो नहीं किया, किन्तु इसके लिए सापेक्षिक–दृष्टि से ही उत्तर देने कि बात कही गई। बौद्ध–दर्शन में जो प्रश्नों के उत्तर प्रति–प्रश्न के माध्यम से देने की बात कही गई है, उसे किसी विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में उत्तर देना माना जा सकता है, जो कि स्याद्वाद–सिद्धान्त एवं नयवाद का आधार रहा है। प्रति–प्रश्न के माध्यम से उत्तर देने की यही पद्धति आगे चलकर जैन–दर्शन में नयवाद के रूप में विकसित हुई है। जहाँ तक बौद्ध–दर्शन में ठपनीय या स्थापनीय–रूप में प्रस्तुत प्रश्नों के सीधे उत्तर की समस्या है, उनका सीधा उत्तर असम्भव माना गया और ऐसे प्रश्नों को एक ओर रख देना ही उचित समझा गया है, वहाँ जैन–दर्शन में ऐसे प्रश्नों को सापेक्षिक–रूप में अवक्तव्य कहकर उत्तर देने की बात कही गई और 'ठपनीय' को सप्तभंगी के अवक्तव्य–भंग में समाहित करने का प्रयत्न किया गया। जैसा कि हमनें पूर्व में कहा – बौद्धों का प्रति–प्रश्नवाद भी एक प्रकार से अनेकान्तवाद का ही एक रूप है, अतः बौद्ध–दर्शन में विभज्यवाद के स्पष्टीकरण के रूप में प्रश्नों के उत्तर देने की जो चार शैलियां मानी गई थीं, उन्हें जैनों ने स्याद्वाद के विभिन्न भंगों की दृष्टि से स्पष्ट किया। इस प्रकार, विभज्यवाद से नयवाद का और अनेकान्तवाद का

विकास हुआ है।

विभज्यवाद और आधुनिक–भाषा विश्लेषणवाद

वस्तुतः, जैन और बौद्ध–परम्पराओं में स्वीकृत विभज्यवाद, जिसका परवर्ती विकास क्रमशः स्याद्वाद और शून्यवाद में हुआ, मूलतः भाषा–विश्लेषण की एक पद्धति है और इस रूप में वह समकालीन पाश्चात्य–भाषा–विश्लेषणवाद का ही एक पूर्वरूप या अग्रज है।

विभज्यवाद को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम कुछ दार्शनिक और कुछ व्यावहारिक–प्रश्नों को लेंगे और देखेंगे कि विभज्यवाद उसका विश्लेषण किस प्रकार करता है। मान लीजिए– किसी ने प्रश्न किया कि शरीर और चेतना (जीव) भिन्न–भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? विभज्यवादी इसका सीधा उत्तर न देकर पहले तो यह जानना चाहेगा कि भिन्नता अथवा अभिन्नता से प्रश्नकर्त्ता का क्या तात्पर्य है ? दूसरे यह कि यह भिन्नता और अभिन्नता भी किस सन्दर्भ में पूछी जा रही है। पुनः, भिन्नता से उसका तात्पर्य तथ्यात्मक–भिन्नता से है अथवा वैचारिक या प्रत्ययात्मक–भिन्नता से है ? और यह भिन्नता भी आनुभविक–जगत् के सन्दर्भ में या तात्त्विक–सन्दर्भ में पूछी जा रही है, क्योंकि 'भिन्नता' शब्द के प्रत्येक तात्पर्य के आधार पर और प्रत्येक सन्दर्भ में इस प्रश्न के उत्तर अलग–अलग हो सकते हैं, जैसे – शरीर और चेतना (आत्मा) को विचार के क्षेत्र में पृथक्–पृथक् किया जा सकता है, किन्तु तथ्यात्मक–क्षेत्र में हम उन्हें एक–दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। वे चिन्तन के क्षेत्र में भिन्न माने जा सकते हैं, लेकिन जागतिक– अनुभव के क्षेत्र में तो अभिन्न हैं, क्योंकि जगत् में शरीर से पृथक् चेतना कहीं उपलब्ध नहीं होती है। पुनः, मृत व्यक्ति के सन्दर्भ में शरीर को चेतना से पृथक् माना जा सकता है, किन्तु जीवित व्यक्ति के सन्दर्भ में उन्हें एक–दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता, अतः महावीर और परवर्ती जैन–आचार्यों ने कहा था कि जीव और शरीर भिन्न–भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं (आया, भन्ते ! काये, अन्ने काये ? गोयमा ! आया वि काये अन्ने वि काये। – भगवती, 13.7)। इस प्रकार, व्यावहारिक–जीवन के क्षेत्र में जब यह पूछा जाये कि सोना अच्छा है या जागना अच्छा है, तो इस प्रश्न का कोई भी निरपेक्ष उत्तर तब तक

नहीं दिया जा सकता, जब तक कि यह स्पष्ट न हो कि सोने और जागने से प्रश्नकर्त्ता का क्या तात्पर्य है। पुनः, यह बात किस प्रसंग में और किस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछी जा रही है, उदाहरण के लिए, सोना कई उद्देश्यों से हो सकता है – शरीर की थकावट मिटाकर स्फूर्त्ति प्राप्त करने के लिए सोना अथवा आलस्यवश सोना, इसी प्रकार सोना कई स्थितियों में भी हो सकता है – रात्रि में सोना, दिन में सोना, कक्षा में सोना; पुनः, सोने वाले व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं – हिंसक, अत्याचारी और दुष्ट अथवा सज्जन, सदाचारी और सेवाभावी। यहाँ किसलिए, कब और किसका– ये सभी तथ्य सोने या जागने के तात्पर्य के साथ जुड़े हुए हैं, इनका विश्लेषण किये बिना हम निरपेक्ष रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि सोना अच्छा है या बुरा है। शारीरिक–स्फूर्त्ति के लिए, रात्रि में सोना अच्छा हो सकता है, जबकि आलस्यवश दिन में सोना बुरा हो सकता है। विभज्यवाद अन्य कुछ नहीं, अपितु प्रश्नों या प्रत्ययों के तात्पर्य का विश्लेषण करके उन्हें सापेक्ष रूप से स्पष्ट करना है। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि विद्वान् (शब्दों, कथनों और प्रत्यय के) सत्य अर्थ (Right-meaning) और अनर्थ (False-meaning) – दोनों का ज्ञाता होता है। जो अनर्थ का परित्याग करके अर्थ का ग्रहण करता है, वही अर्थ के सिद्धान्त (अर्थ–अभिसमय) का जानकार पण्डित (दार्शनिक) कहा जाता है। बुद्ध के उपर्युक्त कथन में समकालीन भाषा–दर्शन का उत्स निहित है। जैन–परम्परा भी शब्द पर नहीं, उनके अर्थ (Meaning) पर बल देती है। जैन–धर्म के अनुसार, तीर्थंकर अर्थ का प्रवक्ता होता है। आज का भाषा–विश्लेषण भी प्रत्ययों या शब्दों के अर्थ का विश्लेषण करके उन्हें स्पष्ट करता है तथा आनुभविक– सन्दर्भ में उनकी व्याख्या करता है। दार्शनिक–आधारों में आंशिक–भिन्नता के होते हुए भी पद्धति की दृष्टि से विभज्यवाद और भाषा–विश्लेषणवाद में आंशिक–समानता है और इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आज से 2500 वर्ष पूर्व प्रस्तुत महावीर और बुद्ध का विभज्यवाद समकालीन भाषा–विश्लेषणवाद का पूर्वज है। आगे हम निक्षेपवाद एवं नयवाद की ही चर्चा करेंगे और अन्त में स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का निर्देश करके विराम लेंगे।

जैन–दर्शन का निक्षेप–सिद्धान्त

जैन–दर्शन में शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण करने के लिए एक प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, उसे निक्षेप का सिद्धान्त कहते हैं। निक्षेप के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि जिससे प्रकरण (सन्दर्भ) आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है, ऐसी रचना विशेष को निक्षेप कहते हैं। लघीयस्त्र में भी निक्षेप की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का निषेध और प्रस्तुत अर्थ का निरूपण होता है। वस्तुतः, शब्द का प्रयोग वक्ता ने किस अर्थ में किया है, इसका निर्धारण करना ही निक्षेप का कार्य है। हम 'राजा' नामधारी व्यक्ति, नाटक में राजा का अभिनय करने वाले व्यक्ति, भूतपूर्व शासक और वर्त्तमान में राज्य के स्वामी – सभी को 'राजा' कहते हैं। इसी प्रकार, गाय नामक प्राणी को भी गाय कहते हैं और उसकी आकृति के बने हुए खिलौने को भी गाय कहते हैं। अतः, किस प्रसंग में शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, इसका निर्धारण करना आवश्यक है। निक्षेप हमें इस अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया को समझाता है। पं. सुखलालजी संघवी अपने तत्त्वार्थसूत्र के विवचन में लिखते हैं – "समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन–देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रत्येक शब्द के कम–से–कम चार अर्थ मिलते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ–सामान्य के चार विभाग हैं। ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है।"

जैन–आचार्यों ने चार प्रकार के निक्षेपों का उल्लेख किया है – 1. नाम, 2. स्थापना, 3. द्रव्य और 4. भाव।

नाम–निक्षेप – व्युत्पत्तिसिद्ध एवं प्रकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला जो अर्थ माता–पिता या अन्य व्यक्तियों के द्वारा किसी वस्तु को दे दिया जाता है, वह नामनिक्षेप है। नामनिक्षेप में न तो शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ का विचार किया जाता है, न उसके लोक–प्रचलित अर्थ का विचार

किया जाता है और न उस नाम के अनुरूप गुणों का ही विचार किया जाता है, अपितु मात्र किसी व्यक्ति या वस्तु को संकेतित करने के लिए उसका एक नाम रख दिया जाता है, उदाहरण के रूप में – कुरूप व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल रख दिया जाना। नाम देते समय अन्य अर्थों में प्रचलित शब्दों जैसे– सरस्वती, नारायण, विष्णु, इन्द्र, रवि आदि अथवा अन्य अर्थों में अप्रचलित शब्दों, जैसे– डित्थ, रिंकू, पिंकू, मोनू, टोनू आदि से किसी व्यक्ति का नामकरण कर देते हैं और उस शब्द को सुनकर उस व्यक्ति या वस्तु में संकेत–ग्रहण होता है। नाम किसी वस्तु या व्यक्ति को दिया गया वह शब्द–संकेत है, जिसका अपने प्रचलित अर्थ, व्युत्पत्तिपरक अर्थ और गुण– निष्पन्न अर्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि नामनिक्षेप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसमें एक शब्द से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।

स्थापना–निक्षेप – किसी वस्तु की प्रतिकृति, मूर्त्ति या चित्र में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण कर उसे उस नाम से अभिहित करना स्थापना–निक्षेप है, जैसे – जिन–प्रतिमा को जिन, बुद्ध–प्रतिमा को बुद्ध और कृष्ण की प्रतिमा को कृष्ण कहना। नाटक के पात्र, प्रतिकृतियाँ, मूर्त्तियाँ, चित्र – ये सब स्थापनानिक्षेप के उदाहरण हैं। जैन–आचार्यों ने इस स्थापनानिक्षेप के दो प्रकार माने हैं–

1. तदाकार–स्थापनानिक्षेप और 2. अतदाकार–स्थापनानिक्षेप।

वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति में उस मूल वस्तु का आरोपण करना – यह तदाकार–स्थापनानिक्षेप है, उदाहरण के रूप में – गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना। जो वस्तु अपनी मूलभूत वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है, किन्तु उसमें उसका आरोपण कर उसे जब उस नाम से पुकारा जाता है, तो वह अतदाकार–स्थापनानिक्षेप है, जैसे – हम किसी अनगढ़ प्रस्तर–खण्ड को किसी देवता का प्रतीक मानकर अथवा शतरंज की मोहरों को राजा, वजीर आदि के रूप में परिकल्पना कर उन्हें उस नाम से पुकारते हैं।

द्रव्य–निक्षेप – जो अर्थ या वस्तु पूर्व में किसी पर्याय, अवस्था या स्थिति में रह चुकी हो, अथवा भविष्य में किसी पर्याय, अवस्था या स्थिति

में रहने वाली हो, उसे वर्त्तमान में भी उसी नाम से संकेतित करना – यह द्रव्यनिक्षेप है, जैसे – कोई व्यक्ति पहले कभी अध्यापक था, किन्तु वर्त्तमान में सेवानिवृत्त हो चुका है, उसे वर्त्तमान में भी अध्यापक कहना, अथवा उस विद्यार्थी को, जो अभी डाक्टरी का अध्ययन कर रहा है, डाक्टर कहना, अथवा किसी भूतपूर्व विधायक को तथा वर्त्तमान में विधायक का चुनाव लड़ रहे व्यक्ति को विधायक कहना–ये सभी द्रव्यनिक्षेप के उदाहरण हैं। लोकव्यवहार में हम इस प्रकार की भाषा के अनेकशः प्रयोग करते हैं, यथा– वह घड़ा, जिसमें कभी घी रखा जाता था, वर्त्तमानकाल में चाहे वह घी रखने के उपयोग में न आता हो, फिर भी घी का घड़ा कहा जाता है।

भाव–निक्षेप – जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त सम्यक् प्रकार से घटित होता हो, वह भावनिक्षेप है, जैसे–किसी धनाढ्य व्यक्ति को लक्ष्मीपति कहना, सेवाकार्य कर रहे व्यक्ति को सेवक कहना आदि।

वक्ता के अभिप्राय अथवा प्रसंग के अनुरूप शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करने के लिए निक्षेपों की अवधारणा का बोध होना आवश्यक है, उदाहरण के रूप में – किसी छात्र को कक्षा में प्रवेश करते समय कहा गया –'राजा आया' – इस कथन का वाच्यार्थ किसी नाटक में मंच पर किसी पात्र को आते हुए देखकर कहा गया –'राजा आया'– इस कथन के वाच्यार्थ से भिन्न है। प्रथम प्रसंग में 'राजा' का वाच्यार्थ है – राजा नामधारी छात्र, जबकि दूसरे प्रसंग में 'राजा' शब्द का वाच्यार्थ है – राजा का अभिनय करने वाला पात्र। आज भी हम 'महाराजा बनारस' और 'महाराजा ग्वालियर' शब्दों का प्रयोग करते हैं, किन्तु आज इन शब्दों का वाच्यार्थ वह नहीं है, जो सन् 1947 के पूर्व था। वर्त्तमान में इन शब्दों का वाच्यार्थ द्रव्यनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होगा, जबकि सन् 1947 के पूर्व वह भावनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होता था। 'राजा' शब्द कभी राजा नामधारी व्यक्ति का वाचक होता है, तो कभी राजा का अभिनय करने वाले पात्र का वाचक होता है। कभी वह भूतकालीन राजा का वाचक होता है, तो कभी वह वर्त्तमान में शासन करने वाले पात्र का वाचक होता है। निक्षेप का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हमें किसी शब्द के वाच्यार्थ का

निर्धारण उसके कथन–प्रसंग के अनुरूप ही करना चाहिए, अन्यथा अर्थबोध में अनर्थ होने की संभावना बनी रहेगी। निक्षेप का सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ के सम्यक् निर्धारण का सिद्धान्त है, जो कि जैन–दार्शनिकों की अपनी एक विशेषता है।

जैन–दर्शन का नय–सिद्धांत

कथन का वाच्यार्थ और नय

शब्द अथवा कथन के सही अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता न केवल वक्ता के शब्दों की ओर जाए, अपितु उसके अभिप्राय को भी समझने का प्रयत्न करे। अनेक बार समान पदावली के वाक्य भी वक्ता के अभिप्राय, वक्ता की कथनशैली और तात्कालिक–सन्दर्भ के आधार पर भिन्न अर्थ के सूचक हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन–आचार्यों ने नय और निक्षेप – ऐसे दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। नय और निक्षेप के सिद्धान्तों का मूलभूत उद्देश्य यही है कि श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गये शब्दों अथवा कथनों का सही अर्थ जान सके। नय की परिभाषा करते हुए जैन–आचार्यों ने कहा है कि 'वक्ता के कथन का अभिप्राय' ही नय कहा जाता है। कथन के सम्यक् अर्थ–निर्धारण के लिए वक्ता के अभिप्राय को एवं तात्कालिक–सन्दर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है। नय–सिद्धान्त हमें वह पद्धति बताता है, जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक–सन्दर्भ (Context) को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन–दर्शन में नय और निक्षेप की अवधारणाएँ स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास के भी पूर्व की है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में हमें नय एवं निक्षेप अवधारणाएँ स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो जाती हैं, जबकि वहाँ स्याद्वाद और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा अनुपस्थित है। तत्त्वार्थ के पाँचवें अध्याय का 'अर्पितानार्पिते सिद्धे' सूत्र भी मूलतः नय–सिद्धान्त अर्थात् सामान्य एवं विशेष दृष्टि का ही सूचक है। आगमिक–विभज्यवाद एवं दार्शनिक–नयवाद की अवधारणा के आधार पर ही आगे स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास हुआ है। यदि हम गम्भीरतापूर्वक देखें, तो जैनों के नय, निक्षेप, स्याद्वाद और सप्तभंगी – इन सभी सिद्धान्तों

का सम्बन्ध भाषा–दर्शन एवं अर्थ–विज्ञान (Science of meaning) से है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वक्ता का अभिप्राय अथवा वक्ता की कथन–शैली या अभिव्यक्ति–शैली ही नय है, तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य सिद्धसेन द्वारा कहा गया है कि जितने वचन–पथ (कथन करने की शैलियाँ) हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हो सकते हैं। वस्तुतः, नयवाद भाषा के अर्थ–विश्लेषण का सिद्धान्त है। भाषायी–अभिव्यक्ति के जितने प्रारूप हो सकते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं, फिर भी मोटे रूप से जैन–दर्शन में दो, पाँच और सप्त नयों की अवधारणा मिलती है। यद्यपि इन सात नयों के अतिरिक्त निश्चय–नय और व्यवहार–नय तथा द्रव्यार्थिक–नय और पर्यायार्थिक–नय का भी उल्लेख जैन–ग्रन्थों में है, किन्तु ये नय मूलतः तत्त्वमीमांसा या अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्धित हैं, जबकि नैगम आदि सप्त नय मूलतः भाषा–दर्शन से सम्बन्धित हैं।

नय और निक्षेप – दोनों ही सिद्धान्त यद्यपि शब्द एवं कथन के वाच्यार्थ (Meaning) का निर्णय करने से सम्बन्धित हैं, फिर भी दोनों में अन्तर है। निक्षेप मूलतः शब्द के अर्थ का निश्चय करता है, जबकि नय वाक्य या कथन के अर्थ का निश्चय करता है। जैन–दर्शन में नयों का विवेचन तीन रूपों में मिलता है – (1) निश्चयनय और व्यवहारनय (2) द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय तथा (3) नैगमादि सप्तनय। भगवतीसूत्र आदि आगमों में नयों के प्रथम एवं द्वितीय वर्गीकरण ही वर्णित हैं, जबकि समवायांग, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र एवं तत्त्वार्थसूत्र में नयों का तृतीय वर्गीकरण नैगमादि के रूप में पाया जाता है, इसका भाष्य–मान्य पाठ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र एवं शब्द – ऐसे पाँच नयों का उल्लेख करता है, जबकि सर्वार्थसिद्धि–मान्य पाठ नैगम आदि सात नयों का उल्लेख करता है। निश्चय और व्यवहार – नय मूलतः ज्ञानपरक दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं। वे वस्तु–स्वरूप के विवेचन की शैलियाँ हैं, जबकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक–नय वस्तु के शाश्वत पक्ष और परिवर्तनशील पक्ष का विचार करते हैं। सप्त नयों की चर्चा में जहाँ तक नैगमादि प्रथम चार नयों का प्रश्न है, वे मूलतः वस्तु के सामान्य और विशेष स्वरूप की

चर्चा करते हैं, जबकि शब्दादि तीन नय, वस्तु का कथन किस प्रकार से किया गया है – यह बताते हैं।

निश्चयनय और व्यवहारनय

ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन हैं – (1) अपरोक्षानुभूति, (2) इन्द्रियजन्यानुभूति और (3) बुद्धि। इनमें अपरोक्षानुभूति या आत्मानुभूति निश्चयनय की और इन्द्रियानुभूति या बुद्धि व्यवहारनय की प्रतीक है। तत्त्वमीमांसा में सत् के स्वरूप की व्याख्या प्रमुख रूप से निश्चय और व्यवहार – दो दृष्टिकोणों के आधार पर होती है। जैन–दर्शन के अनुसार, सत् अपने–आप में एक पूर्णता है, अनन्तता है। इन्द्रियानुभूति, बुद्धि, भाषा और वाणी अपनी–अपनी सीमा के कारण अनन्त गुण धर्मात्मक सत् के एकांश का ही ग्रहण कर पाती हैं, यही एकांश का बोध नय कहलाता है। दूसरे शब्दों में, सत् के अनन्त पक्षों को जिन–जिन दृष्टिकोणों से देखा जाता है, वे सभी नय कहलाते हैं।

नयों का स्वरूप

जैन–दार्शनिकों का कहना है कि सत् की अभिव्यक्ति के लिए भाषा के जितने प्रारूप (कथन के ढंग) हो सकते हैं, उतने ही नय, वाद अथवा दृष्टिकोण हो सकते हैं। वैसे तो जैन–दर्शन में नयों की संख्या अनन्त मानी गई है, लेकिन मोटे तौर पर नयों के दो भेद किये जाते हैं, जिन्हें – 1. निश्चयनय और 2. व्यवहारनय कहते हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय में सभी नयों का अन्तरभाव हो जाता है। भगवतीसूत्र में इन दोनों नयों का प्रतिपादन बढ़े ही रोचक रूप में किया गया है– गौतमस्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं – "भगवन् ! प्रवाही गुड़ में कितने रस, वर्ण, गन्ध और स्पर्श होते हैं ?" महावीर कहते हैं– "गौतम ! में इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारनय से तो वह मधुर कहा जाता है, लेकिन निश्चयनय से उसमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श होते हैं।" वस्तुतः, निश्चय और व्यवहार–दृष्टियों का विश्लेषण यह बताता है कि वस्तु–तत्त्व न केवल उतना ही है, जितना इन्द्रियों के माध्यम से वह हमें प्रतीत होता है, अथवा बुद्धि उसके स्वरूप का निश्चय कर पाती है।

सत् स्वरूप को समझने के लिए इन्द्रियानुभूतिजन्य ज्ञान और बुद्धिजन्य ज्ञान उसके व्यावहारिक–पक्ष को ही पकड़ पाते हैं, क्योंकि बुद्धि भी भाषा पर आधारित है और भाषा का शब्द–भण्डार अति सीमित है। इसी प्रकार, अपरोक्षानुभूति भी या आत्मिक–अनुभूति भाषा और बुद्धि–निरपेक्ष होती है, जिसे अन्तर्दृष्टि या प्रज्ञा कहा जाता है। निश्चयनय अपरोक्षानुभूति पर और व्यवहारनय इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक–ज्ञान पर निर्भर करती है। इस प्रकार, व्यवहारनय भी इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक–विमर्श – दोनों की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार, जैनदर्शन में ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति के इन्द्रियानुभूतिजन्य–ज्ञान, बौद्धिक–ज्ञान और आत्मिक–ज्ञान – ऐसे तीन विभाग भी किये गये हैं, ठीक इसी प्रकार, बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद में भी परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न – ऐसे ज्ञान के तीन भेद किये गये हैं। बौद्धदर्शन का शून्यवाद भी इसे मिथ्या–संवृत्ति, तथ्य–संवृत्ति और परमार्थ – ऐसे तीन रूपों में व्यक्त करता है। आचार्य शंकर ने भी इन्हें ही प्रतिभाषित–सत्य, व्यावहारिक–सत्य और पारमार्थिक–सत्य – ऐसे तीन विभागों में बाटा है। इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक–ज्ञान व्यवहार–पक्ष को प्रधानता देते हैं, अतः इनको मिला देने पर दो विधाएँ ही शेष रहती हैं– व्यवहार (व्यवहारनय) और परमार्थ (निश्चयनय)।

पाश्चात्य–परम्परा में ज्ञान की ही विधाएँ – निश्चयनय और व्यवहारनय

न केवल भारतीय–दर्शनों में, वरन् पाश्चात्य–दर्शनों में भी प्रमुख रूप से व्यवहार और परमार्थ के दृष्टिकोण स्वीकृत रहे हैं। डॉ. चन्द्रधर शर्मा के अनुसार भी पश्चिमी–दर्शनों में भी व्यवहार और परमार्थ–दृष्टिकोणों का यह अन्तर सदैव ही माना जाता रहा है। विश्व के सभी महान् दार्शनिकों ने इसे किसी–न–किसी रूप में स्वीकार किया है। हेराक्लिटस के Kato और Ano पारमेनीडीज के मत (Opinion) और सत्य (Truth), सुकरात के रूप और आकार (Word and Form), प्लेटो के दर्शन में संवेदन (Sense) और प्रत्यय (Idea), अरस्तू के पदार्थ (Matter) और चालक (Mover), स्पिनोजा के द्रव्य (Substance) और पर्याय (Modes), कांट के

प्रपंच (Phenomenal) और तत्त्व, हेगल के विपर्यय और निरपेक्ष तथा ब्रैडले के आभास (Appearance) और सत् (Reality) किसी–न–किसी रूप में उसी व्यवहार और परमार्थ की धारणा को स्पष्ट करते हैं। भले ही इनमें नामों की भिन्नता हो, लेकिन उनके विचार इन्हीं दो दृष्टिकोणों की ओर संकेत करते हैं।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि जहाँ तक व्यवहार का प्रश्न है, उसके ज्ञान के साधन इन्द्रियां, मन और बुद्धि हैं और ये तीनों सीमित और सापेक्ष हैं, इसलिए समस्त व्यावहारिक–ज्ञान सापेक्ष होता है। जैन–दार्शनिकों का कथन है कि एक भी कथन और उसका अर्थ ऐसा नहीं है, जो नय–शून्य हो, सारा ज्ञान दृष्टिकोणों पर आधारित है, यही दृष्टिकोण मूलतः निश्चयनय और व्यवहारनय कहे जाते हैं।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयनय और व्यवहारनय का अर्थ

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि सत् के उस स्वरूप का प्रतिपादन करती है, जो सत् की त्रिकालाबाधित स्वभावदशा और स्वलक्षण है, जो पर्याय या परिवर्तनों में भी सत्ता के सार के रूप में बना रहता है। निश्चयदृष्टि अभेदगामी सत्ता के शुद्ध स्वरूप या स्वभावदशा की सूचक है और उसके पर–निरपेक्ष स्वरूप की व्याख्या करती है, जबकि व्यवहारनय प्रतीति को आधार बनाती है, अतः वह वस्तु के पर–सापेक्ष स्वरूप का विवेचन करता है। निश्चयनय वस्तु या आत्मा के शुद्ध स्वरूप या स्वभाव–लक्षण का निरूपण करता है, जो पर से निरपेक्ष होता है, जबकि व्यवहारनय पर–सापेक्ष प्रतीतिरूप वस्तु–स्वरूप को बताता है। आत्मा कर्म–निरपेक्ष, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है – यह निश्चयनय का कथन है, जबकि व्यवहारनय कहता है कि संसार–दशा में आत्मा कर्ममूल से लिप्त है, राग–द्वेष एवं काषायिक–भावों से युक्त है। पानी स्व–स्वरूपतः शुद्ध है – यह निश्यचनय है। पानी में कचरा है, मिट्टी है, वह गन्दा है – यह व्यवहारनय है।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारदृष्टि सत्ता के उस पक्ष का प्रतिपादन करती है, जिस रूप में वह प्रतीत होती है। व्यवहारदृष्टि भेदगामी है और

सत् के आगन्तुक लक्षणों या विभावदशा की सूचक है। सत् के परिवर्तनशील पक्ष का प्रस्तुतिकरण व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय देश और काल–सापेक्ष है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार, आत्मा जन्म भी लेती है और मरती भी है, वह बन्धन में भी आती है और मुक्त भी होती है।

आचार–दर्शन के क्षेत्र में व्यवहारनय और निश्चयनय का अन्तर

जैन–परम्परा में व्यवहार और निश्चय नामक दो नयों या दृष्टियों का प्रतिपादन किया जाता है। वे तत्त्वज्ञान और आचारदर्शन – दोनों क्षेत्रों पर लागू होती हैं, फिर भी आचारदर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि का प्रतिपादन भिन्न–भिन्न अर्थों में हुआ है। पं. सुखलालजी इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जैन–परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार–रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं, वे तत्त्वज्ञान और आचार – दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। सभी भारतीय–दर्शनों की तरह जैन–दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार – दोनों का समावेश है। निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार – दोनों में होता है, लेकिन सामान्यतः शास्त्राभ्यासी इस अन्तर को जान नहीं पाता। तात्त्विक–निश्चयदृष्टि और आचारविषयक–निश्चयदृष्टि – दोनों एक नहीं हैं। यही बात उभयविषयक–व्यवहारदृष्टि की भी है। तात्त्विक– निश्चयदृष्टि शुद्ध निश्चय–दृष्टि है और आचारविषयक–निश्चयदृष्टि अशुद्ध निश्चयनय है। इसी प्रकार, तात्त्विक–व्यवहारदृष्टि भी आचार–सम्बन्धी व्यवहारदृष्टि से भिन्न है। यह अन्तर ध्यान में रखना आवश्यक है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – नय

जैनदर्शन के अनुसार, सत्ता अपने–आप में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य– युक्त है। उसका ध्रौव्य (स्थायी) पक्ष अपरिवर्तनशील है और उसका उत्पाद–व्यय का पक्ष परिवर्तनशील है। सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्यार्थिक–नय और परिवर्तनशील पक्ष को पर्यायार्थिक–नय कहा

जाता है। पाश्चात्य–दर्शनों में सत्ता के उस अपरिवर्तनशील पक्ष को Being और परिवर्तनशील पक्ष को Becoming भी कहा गया है। सत्ता का वह पक्ष, जो तीनों कालों में एकरूप रहता है, जिसे द्रव्य भी कहते हैं, उसका बोध द्रव्यार्थिक–नय से होता है और सत्ता का वह पक्ष, जो परिवर्तित होता रहता है, उसे पर्याय कहते है, उसका कथन पर्यायार्थिक–नय ही है। ज्ञान–मीमांसा की दृष्टि से यह परिवर्तनशील पक्ष भी दो रूपों में काम करता है, जिन्हें स्वभाव–पर्याय और विभाव–पर्याय के रूप में जाना जाता है, जिसमें स्वभाव– पर्यायावस्था को प्राप्त करना ही उसका नैतिक–आदर्श है। स्वभाव–पर्याय तत्त्व के निज गुणों के कारण होती है एवं अन्य तत्त्वों से निरपेक्ष होती है, इसके विपरीत, विभाव–पर्याय अन्य तत्त्व से सापेक्ष विभाव–पर्याय होती है। आत्मा में ज्ञाताद्रष्टा–भाव या ज्ञाताद्रष्टा की अवस्था स्वभावपर्यायरूप होती है। क्रोधादिभाव विभावपर्यायरूप होते हैं। परिवर्तनशील स्वभाव एवं विभाव– पर्यायों का कथन व्यवहारनय होता है, *जबकि सत्तारूप आत्मा के ज्ञाताद्रष्टा नामक गुण का कथन निश्चयनय से* होता है।

नैगम आदि सप्त नय

यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत एक परवर्ती घटक है। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ में नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्दनय – ऐसे पाँच भेद किये गये हैं। ये पाँचों भेद दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम में भी उल्लेखित हैं। तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यमान्य पाठ में उसके पश्चात् नैगमनय के दो भेद और शब्दनय के दो भेद भी किये गये हैं। परवर्तीकाल में शब्द–नय के इन दो भेदों को मूल–पाठ में समाहित करके सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में नयों के नैगम आदि सप्त नयों की चर्चा भी की गई है। दिगम्बर–परम्परा इस सर्वाथसिद्धिमान्य पाठ को आधार मानकर इन सात नयों की ही चर्चा करती है। वर्त्तमान में तो श्वेताम्बर और दिगम्बर – दोनों ही परम्पराओं में इन सप्तनयों की चर्चा ही मुख्य रूप से मिलती है। इन सात नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र – इन चार नयों को अर्थनय अर्थात् वस्तुस्वरूप का विवेचन करने वाले और शब्द समभिरूढ़

और एवंभूत – इन तीन नयों को शब्दनय अर्थात् वाच्य के अर्थ का विश्लेषण करने वाले कहा गया है। अर्थनय का संबंध वाच्य–विषय (वस्तु) से होता है, अतः ये नय अपने वाच्य–विषय की चर्चा सामान्य और विशेष – इन पक्षों के आधार पर करते हैं, जबकि शब्दनय का संबंध वाच्यार्थ (Meaning) से होता है। आगे हम इन नैगम आदि सप्त नयों की संक्षेप में चर्चा करेंगे।

नैगम–नय – इन सप्त नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है। नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है, जिसे वह वक्ता बताना चाहता है। नैगमनय सम्बन्धी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जानेवाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक–पक्ष पर ध्यान न देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल से लकड़ी लेने जाता है और उससे जब पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो ? तो वह कहता है – मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः, वह जंगल से स्तम्भ नहीं, अपितु स्तम्भ बनाने की लकड़ी ही लाता है, लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है, अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही वैसा ही कथन करता है। हमारी व्यावहारिक–भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं, जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्त्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। डाक्टरी में पढ़ने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से डाक्टर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भूत पर आधारित भविष्यकालीन साध्य या संकल्पों के आधार पर होता है, जैसे – प्रत्येक भाद्र कृष्ण अष्टमी को कृष्णजन्माष्टमी कहना। यहाँ वर्त्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार किया गया है।

संग्रह–नय – भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यष्टि को गौण कर समष्टि के आधार पर होते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार, जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है, तो वह संग्रहनय का कथन माना जाता

है, उदाहरण के लिए – जब कोई व्यक्ति यह कहे कि भारतीय गरीब हैं, तो उसका यह कथन व्यक्ति–विशेष पर लागू न होकर सामान्य रूप से समग्र भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। प्रज्ञापनासूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि जाति–प्रज्ञापनीय–भाषा सत्य मानी जाए अथवा असत्य या व्यक्ति–विशेष के आधार पर सत्य या असत्य मानी जाए। जाति–प्रज्ञापनीय– भाषा में समग्र जाति के सम्बन्ध में गुण, स्वभाव आदि का प्रतिपादन होता है, किन्तु ऐसे कथनों में अपवाद की सम्भावना से इंकार भी नहीं किया जा सकता। सामान्य या जाति के सम्बन्ध में किये गये कथन कभी व्यक्ति के सम्बन्ध में सत्य भी होते हैं और कभी असत्य भी होते हैं, अतः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि उस कथन के अपवाद उपस्थित हैं, तो उसे सत्य किस आधार पर कहा जाय। उदाहरण के लिए – यदि कोई कहे कि स्त्रियाँ भीरू (डरपोक) होती हैं, तो यह कथन सामान्यतया स्त्री–जाति के सम्बन्ध में तो सत्य माना जा सकता है, किन्तु किसी स्त्री–विशेष के सम्बन्ध में यह सत्य ही हो – ऐसा आवश्यक नहीं है, अतः संग्रहनय के आधार पर किये गए कथन, जैसे – भारतीय गरीब हैं, अथवा स्त्रियाँ भीरू होती हैं, समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकते हैं, उन्हें उस जाति के प्रत्येक सदस्य के बारे में सत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई इस सामान्य वाक्य से यह निष्कर्ष निकाले कि सभी भारतीय गरीब हैं और बिड़ला भारतीय है, इसलिए बिड़ला गरीब है, तो उसका यह निष्कर्ष सत्य नहीं होगा। सामान्य या समष्टिगत कथनों का अर्थ समुदायरूप से ही सत्य होता है। यह समष्टि या जाति के पृथक्–पृथक् व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य भी हो सकता है और असत्य भी हो सकता है। संग्रहनय हमें यही संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर उस समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहार–नय – व्यवहारनय सामान्यगर्भित विशेष पर बल देता है। व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी–दृष्टि भी कह सकते हैं। वैसे, जैन आचार्यों ने इसे व्यक्तिप्रधान दृष्टिकोण भी कहा है। अर्थ–प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह नय हमें यह बताता है कि कुछ व्यक्तियों के सन्दर्भ में

निकाले गए निष्कर्षों एवं कथनों को समष्टि के अर्थ में सत्य नहीं माना जाना चाहिए, साथ ही, व्यवहारनय कथन के शब्दार्थ पर न जाकर वक्ता की भावना या लोकपरम्परा (अभिसमय) को प्रमुखता देता है। व्यवहार–भाषा के अनेक उदाहरण हैं। जब हम कहते हैं कि घी के घड़े में लड्डू रखे हैं – यहाँ घी के घड़े का अर्थ ठीक वैसा नहीं है, जैसा कि मिट्टी के घड़े का अर्थ है। यहाँ घी के घड़े का तात्पर्य वह घड़ा है, जिसमें पहले घी रखा जाता था।

ऋजुसूत्र–नय – ऋजुसूत्रनय को मुख्यतः पर्यायार्थिक–दृष्टिकोण का प्रतिपादक कहा जाता है और उसे बौद्धदर्शन का समर्थक बताया जाता है। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान स्थितियों को दृष्टि में रखकर कोई प्रकथन करता है। उदाहरण के लिए – 'भारतीय–व्यापारी प्रामाणिक नहीं हैं' – यह कथन केवल वर्त्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन और भविष्यकालीन भारतीय–व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते। ऋजुसूत्रनय हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालिक–सन्दर्भ में ही सत्य होता है, अन्यकालिक सन्दर्भो में नहीं। जो वाक्य जिस कालिक–सन्दर्भ में कहा गया है, उसके वाक्यार्थ का निश्चय उसी कालिक–सन्दर्भ में होना चाहिए।

शब्द–नय – नय–सिद्धान्त के उपर्युक्त चार नय मुख्यतः शब्द के वाच्य–विषय (अर्थ) से सम्बन्धित हैं, जबकि शेष तीन नयों का सम्बन्ध शब्द के वाच्यार्थ (Meaning) से है। शब्दनय यह बताता है कि शब्दों का वाच्यार्थ उनकी क्रिया या विभक्ति के आधार पर भिन्न–भिन्न हो सकता है, उदाहरण के लिए – ' बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर था' और 'बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर है' – इन दोनों वाक्यों में 'बनारस' शब्द का वाच्यार्थ भिन्न–भिन्न है। एक भूतकालीन बनारस की बात कहता है, तो दूसरा वर्त्तमानकालीन। इसी प्रकार, 'कृष्ण ने मारा' – इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ कृष्ण नामक वह व्यक्ति है, जिसने किसी को मारने की क्रिया सम्पन्न की है, जबकि ' कृष्ण को मारा' – इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ वह व्यक्ति है, जो किसी के द्वारा मारा गया है। शब्दनय हमें यह बताता है

कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रिया–पद आदि के आधार पर बदल जाता है।

समभिरूढ़–नय – भाषा की दृष्टि से समभिरूढ़नय यह स्पष्ट करता है कि अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्द, यथा – नृप, भूपति, भूपाल, राजा आदि अपने व्युत्पत्यार्थ की दृष्टि से भिन्न–भिन्न अर्थ के सूचक हैं। जो मनुष्य का पालन करता है, वह नृप कहा जाता है। जो भूमि का स्वामी होता है, वह भूपति होता है। जो शोभायमान् होता है, वह राजा कहा जाता है। इस प्रकार, पर्यायवाची शब्द अपना अलग–अलग वाच्यार्थ रखते हुए भी अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के वाचक मान लिए जाते हैं, किन्तु यह नय पर्यायवाची शब्दों, यथा – इन्द्र, शक्र, पुरन्दर में व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ–भेद मानता है।

एवंभूत–नय – एवंभूतनय शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण मात्र उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर करता है, उदाहरण के लिए – कोई राजा जिस समय शोभायमान् हो रहा है, उसी समय राजा कहा जा सकता है। एक अध्यापक उसी समय अध्यापक कहा जा सकता है, जब वह अध्यापन का कार्य करता है, यद्यपि व्यवहार–जगत् में इससे भिन्न प्रकार के ही शब्द प्रयोग किये जाते हैं। जो व्यक्ति किसी समय अध्यापन करता था, अपने बाद के जीवन में वह चाहे कोई भी पेशा अपना ले, 'मास्टरजी' के ही नाम से जाना जाता है। इस नय के अनुसार, जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, गुणवाचक, संयोगी–द्रव्य–शब्द आदि सभी शब्द मूलतः क्रियावाचक हैं। शब्द का वाच्यार्थ क्रियाशक्ति का सूचक है, अतः शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर करना चाहिए।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन–आचार्यों का नय–सिद्धान्त यह प्रयास करता है कि पर वाक्य–प्रारूपों के आधार पर कथनों का श्रोता के द्वारा सम्यक् अर्थ ग्रहण किया जाय। वह यह बताता है कि किसी शब्द अथवा वाक्य का अभिप्रेत अर्थ क्या होगा। यह बात उस कथन के प्रारूप पर निर्भर करती है, जिसके आधार पर वह कथन किया गया है। नय–सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि कथन के वाच्यार्थ का निर्धारण

भाषायी–संरचना एवं वक्ता की अभिव्यक्ति–शैली पर आधारित है और इसलिए यह कहा गया है कि जितने वचन–पथ हैं, उतने ही नयवाद हैं। नय–सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण एकान्तिक–दृष्टि से न करके उस समग्र परिप्रेक्ष्य में करता है, जिसमें वह कहा गया है।

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी

(सिद्धान्त एवं व्यवहार)

अनेकान्त एक व्यावहारिक–पद्धति

अनेकान्तवाद एक दार्शनिक–सिद्धान्त होने की अपेक्षा दार्शनिक–मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनेक सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की पद्धति–विशेष है । इस प्रकार, अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयास करना है, अतः वह सत्य के खोज की एक व्यावहारिक–पद्धति है, जो सत्ता को उसके विविध आयामों में देखने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक–विधियां दो प्रकार की होती हैं–1. तार्किक या बौद्धिक और 2. आनुभविक। तार्किक–विधि सैद्धान्तिक होती है, वह दार्शनिक–स्थापनाओं में तार्किक–संगति को देखती है। इसके विपरीत, आनुभविक–विधि सत्य की खोज तर्क के स्थान पर मानवीय–अनुभूतियों के सहारे करती है। उसके लिए तार्किक–संगति की अपेक्षा आनुभविक– संगति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है। अनेकान्तवाद की विकास–यात्रा इसी आनुभविक–पद्धति के सहारे चलती है। उसका लक्ष्य, 'सत्य' क्या है– यह बताने की अपेक्षा, सत्य कैसा अनुभूत होता है– यह बताना है। अनुभूतियाँ वैयक्तिक होती हैं और इसीलिए अनुभूतियों के आधार पर निर्मित दर्शन भी विविध होते हैं। अनेकांत का कार्य उन सभी दर्शनों की सापेक्षिक–सत्यता को उजागर करके उनमें रहे हुए विरोधों को समाप्त करना है। इस प्रकार, अनेकांत एक सिद्धान्त होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक–पद्धति ही अधिक है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद की एक दार्शनिक–सिद्धान्त के रूप में स्थापना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई. चतुर्थ शती) को भी अनेकान्तवाद

की इस व्यावहारिक– महत्ता के आगे नतमस्तक होकर कहना पड़ा–

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।

–सन्मति–तर्क–प्रकरण–3/70

अर्थात्, जिसके बिना लोक–व्यवहार का निर्वहन भी सर्वथा सम्भव नहीं है, उस संसार के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अनेकान्तवाद व्यावहारिक–दर्शन है। इसकी महत्ता उसकी व्यावहारिक–उपयोगिता पर निर्भर है। उसका जन्म दार्शनिक–विवादों के सर्जन के लिए नहीं, अपितु उनके निराकरण के लिए हुआ है। दार्शनिक–विवादों के बीच समन्वय के सूत्र खोजना ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक–उपादेयता का प्रमाण है। अनेकान्तवाद का यह कार्य त्रिविध है–

1. प्रत्येक दार्शनिक–अवधारणा के गुण–दोषों की समीक्षा करना। इस समीक्षा में यह देखने का प्रयत्न करना कि उसकी हमारे व्यावहारिक–जीवन में क्या उपयोगिता है, जैसे– बौद्ध– दर्शन के क्षणिकवाद और अनात्मवाद की समीक्षा करते हुए यह देखना कि तृष्णा के उच्छेद के लिए क्षणिकवाद और अनात्मवाद की दार्शनिक– अवधारणाएं कितनी आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

2. प्रत्येक दार्शनिक–अवधारणा की सापेक्षिक–सत्यता को स्वीकार करना और यह निश्चित करना कि उसमें जो सत्यांश है, वह किसी अपेक्षा–विशेष से है, जैसे– यह बताना कि सत्ता की नित्यता की अवधारणा द्रव्य की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिक–नय की अपेक्षा से सत्य है और सत्ता की अनित्यता उसकी पर्याय की अपेक्षा से औचित्यपूर्ण है। इस प्रकार, वह प्रत्येक दर्शन की सापेक्षिक–सत्यता को स्वीकार करता है और वह सापेक्षिक–सत्यता किस अपेक्षा से है, उसे भी स्पष्ट करता है।

3. अनेकान्तवाद का तीसरा महत्वपूर्ण उपयोगी कार्य विभिन्न एकांतिक–मान्यताओं को समन्वय के सूत्र में पिरोकर उनके एकान्तरूपी दोष का निराकरण करते हुए उनके पारस्परिक–विद्वेष का निराकरण कर उनमें सौहार्द और सौमनस्य स्थापित कर देना है। जिस प्रकार एक वैद्य

किसी विष–विशेष के दोषों की शुद्धि करके उसे औषधि बना देता है, उसी प्रकार अनेकांतवाद भी दर्शनों अथवा मान्यताओं के एकान्तरूपी विष का निराकरण करके उन्हें एक–दूसरे का सहयोगी बना देता है। अनेकांतवाद के उक्त तीनों ही कार्य (function) उसकी व्यावहारिक–उपादेयता को स्पष्ट कर देते हैं।

दर्शन का जन्म

दर्शन का जन्म मानवीय–जिज्ञासा से होता है। ईसा पूर्व छठवीं शती में मनुष्य की यह जिज्ञासा पर्याप्त रूप से प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेक विचारक विश्व के रहस्योद्घाटन के लिए प्रयत्नशील थे। इन जिज्ञासु चिन्तकों के सामने अनेक समस्याएँ थीं, जैसे–इस दृश्यमान् विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई। इसका मूल कारण क्या है? वह मूल कारण या परमतत्त्व जड़ है या चेतन? पुनः, यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है या असत् से? यदि यह संसार सत् से उत्पन्न हुआ, तो वह सत् या मूल तत्त्व एक है या अनेक। यदि वह एक है, तो वह पुरुष (ब्रह्म) है या पुरुषेतर (जड़तत्त्व) है, यदि पुरुषेतर है, तो वे अनेक तत्व कौन से हैं? अग्नि, आकाश आदि में से क्या हैं? पुनः, यदि वे अनेक हैं, तो वे अनेक तत्त्व कौन हैं? पुनः, यदि यह संसार सृष्ट है, तो वह स्रष्टा कौन है? उसने जगत् की सृष्टि क्यों की और किससे की? इसके विपरीत, यदि वे असृष्ट हैं, तो क्या अनादि हैं? पुनः, यदि ये अनादि हैं, तो इनमें होने वाले उत्पाद, व्यय–रूपी परिवर्तनों की क्या व्याख्या है? आदि। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मानव–मस्तिष्क में उठ रहे थे। चिन्तकों ने अपने चिन्तन एवं अनुभव के बल पर इनके अनेक प्रकार से उत्तर दिये। चिन्तकों या दार्शनिकों के इन विविध उत्तरों या समाधानों का कारण दोहरा था, एक ओर, वस्तुतत्त्व या सत्ता की बहुआयामिता और दूसरी ओर, मानवीय– बुद्धि, ऐन्द्रिक–अनुभूति एवं अभिव्यक्ति–सामर्थ्य की सीमितता। फलतः, प्रत्येक चिन्तक या दार्शनिक ने सत्ता को अलग–अलग रूप में व्याख्यायित किया।

सामान्यतया, इस अनैकान्तिक–दृष्टि को जैनदर्शन के साथ जोड़ा जाता है और इस सत्य को नकारा भी नहीं जा सकता है, क्योंकि

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास का श्रेय जैन–दार्शनिकों को है, फिर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अनेकान्त–दृष्टि केवल जैन–दार्शनिकों की एकमात्र बपौती है। दार्शनिक–मतवैभिन्य और उनके समन्वय के प्रयासों की उपस्थिति के संकेत तो वैदिक और औपनिषदिक–साहित्य में भी मिलते हैं। मात्र यही नहीं, अन्य भारतीय–दर्शनों में भी ऐसे प्रयास हुए हैं।

अनेकान्तवाद के विकास का इतिहास

भारतीय–साहित्य में वेद प्राचीनतम हैं। उनमें भी ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है। उसके नासदीयसूक्त (10. 12 : 2) में परमतत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई, अपितु अन्त में ऋषि ने कह दिया कि उस परसत्ता को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। इस प्रकार, सत्ता की बहुआयामिता और उसमें अपेक्षा–भेद से परस्पर विरोधी गुण–धर्मों की उपस्थिति की स्वीकृति वेदकाल में भी मान्य रही है और ऋषियों ने उसके विविध आयामों को जानने–समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास भी किया है। मात्र यही नहीं, ऋग्वेद (1. 164. 46) में ही परस्पर विरोधी मान्यताओं में निहित सापेक्षिक–सत्यता को स्वीकार करते हुए यह भी कहा गया है– एकं सद् विप्राः बहुधा वदंति, अर्थात्, सत् एक है, विद्वान् उसे अनेक दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अनैकांतिक–दृष्टि का इतिहास अति प्राचीन है। न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनैकांतिक–दृष्टि के उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनैकान्तिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं, तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं–

(1) अलग–अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतिकरण।

(2) एकान्तिक–विचारधाराओं का निषेध।

(3) परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत्– इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय–उपनिषद् (2.7) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचारधारा की पुष्टि छान्दोग्योपनिषद् (3/19/1) में भी उपलब्ध होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था, उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार, हम देखते हैं कि इन दोनों में असत्वादी–विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत, उसी छान्दोग्योपनिषद् (6 : 2 : 1, 3) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1 : 4: 1–4) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है, उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपंचात्मक–जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह, विश्व का मूलतत्त्व जड़ है या चेतन– इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर, बृहदारण्यकोपनिषद् (2: 4: 12) में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है, तो दूसरी ओर, छान्दोग्योपनिषद् (6: 2: 1, 3) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त–तत्त्व) ही था, दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊं और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् (2 : 6) से भी होती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधाराएं प्रस्तुत की गयी हैं। यदि ये सभी विचारधाराएं सत्य हैं, तो इससे औपनिषदिक–ऋषियों की अनेकान्तदृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है, अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक–चिन्तनों में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक–दृष्टि अवश्य थी, क्योंकि उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं, जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (3 : 8: 8) में ऋषि कहता

है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं और दीर्घ भी नहीं है।' इस प्रकार, यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ–साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् (2:6) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त–अमूर्त, वाच्य–अवाच्य, विज्ञान (चेतन)–अविज्ञान (जड़), सत्–असत्– रूप है। इसी प्रकार, कठोपनिषद् (1 : 20) में उस परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता–दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः, उसी उपनिषद् (3: 12) में एक सत्ता को गुण की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महान् की अपेक्षा भी महान् कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता–दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः, उसी उपनिषद् (3 : 12) में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है, वहीं दूसरी ओर, उसे ज्ञान का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया, तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा–भेद से जो अज्ञेय है, उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषद्कारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार, श्वेताश्वतरोपनिषद् (1. 7) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त–ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं, यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषद्कारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैनदर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है । मात्र यही नहीं, उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक– ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी

गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक–दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी, तो उन्होंने उस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। तैत्तरीय उपनिषद् (2) में यह कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह)। इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् –काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय–ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे, किन्तु औपनिषदिक–ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावास्योपनिषद् (4) में मिलता है। उसमें कहा गया है–

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्"

अर्थात्, वह गतिरहित है, फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है। "तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके,, अर्थात्, वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है, वह पास भी है। इस प्रकार, उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय कौ मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व– अनेकत्व, जड़त्व–चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद्–काल में अनेक दार्शनिक–दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने–अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए दूसरे का निषेध करने लगीं, तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा, जो सभी की सापेक्षिक–सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त–दृष्टि है, जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस् में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक–द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार, अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक–दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग–पग अनेकान्त जीवन–दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही **"त्येन त्यक्तेन भुण्जीथा मा गृधः**

कस्यस्विद्धनम्'' कहकर त्याग एवं भोग–इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त–त्याग और एकान्त–भोग– दोनों को सम्यक् जीवन–दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त–त्याग पर चलता है और न एकान्त–भोग पर, बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इसी प्रकार, कर्म और अकर्म–सम्बन्धी एकान्तिक–विचारधाराओं में समन्वय करते हुए ईशावास्य (2) कहता है कि **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतॉ समाः''**, अर्थात्, मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं, वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम–भाव से बिना किसी स्पृहा के हों, तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते। निष्काम–कर्म की यह जीवन–दृष्टि व्यावहारिक–जीवन–दृष्टि है। भेद–अभेद का व्यावहारिक–दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है–

यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेशुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। (ईशा. 6)

अर्थात्, जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है, वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहां जीवात्माओं में भेद एवं अभेद–दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि ही परिलक्षित होती है, जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक–घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (ईशा.10) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (ईशा. 12) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है, वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता है, वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (ईशा. 9) और वह, जो दोनों को जानता है, या दोनों का समन्वय करता है, वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत–तत्त्व को प्राप्त करता है (ईशा. 11)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्तदृष्टि

के व्यावहारिक–पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहुआयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक–जीवनदृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व भी था, जिसे अनेकान्त–दर्शन का आधार माना जा सकता है।

अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि मानवीय प्रज्ञा के विकास के प्रथम चरण से ही ऐसे प्रयास परिलक्षित होने लगते हैं। भारतीय–मनीषा के प्रारम्भिक–काल में हमें इस दिशा में दो प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगत होते हैं– (क) बहुआयामी सत्ता के किसी पक्ष–विशेष की स्वीकृति के आधार पर अपनी दार्शनिक–मान्यता का प्रस्तुतिकरण तथा (ख) उन एकपक्षीय (एकान्तिक) अवधारणाओं के समन्वय का प्रयास। समन्वयसूत्र का सृजन ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक–उपादेयता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः, अनेकान्तवाद का कार्य त्रिविध है– प्रथम तो, यह विभिन्न एकान्तिक–अवधारणाओं के गुण–दोषों की तार्किक–समीक्षा करता है, दूसरे, वह उस समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है, वह किसी अपेक्षा से है, तीसरे, वह उन सोपक्षिक–सत्यांशों के आधार पर उन एकान्तवादों को समन्वित करता है।

इस प्रकार, अनेकान्तवाद मात्र तार्किक–पद्धति न होकर एक व्यावहारिक–दार्षनिक–पद्धति है। यह एक सिद्धान्त–मात्र न होकर सत्य को देखने और समझने की पद्धति–विषेश है और यही उसकी व्यावहारिक–उपादेयता है।

अनेकांत क्यों?

जैनदर्षन की विशिष्टता उसकी अनेकान्त–दृष्टि में है। उसकी तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय–दार्शनिक–अवधारणाओं की संरचना में इस अनैकान्तिक–दृष्टि का प्रयोग किया गया है। अपनी अनेकान्त–दृष्टि के कारण ही जैनदर्शन ने भारतीय–दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी दार्शनिक–अवधारणों के मध्य समन्वय स्थापित करके उन्हें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जैन– दार्शनिकों

की यह दृढ़ मान्यता है कि अनैकान्तिक–दृष्टि के द्वारा परस्पर विरोधी दार्शनिक–अवधारणाओं के मध्य रहे हुए विरोध का परिहार करके उनमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है। उसकी इस अनैकान्तिक–समन्वयशील दृष्टि का परिचय हमें उसकी वस्तुतत्त्व–सम्बन्धी विवेचनाओं में भी परिलक्षित होता है।

वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता

जैनदर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक कहा गया है। वस्तु की यह तात्त्विक–अनन्तधर्मात्मकता अर्थात् अनैकान्तिकता ही जैनदर्शन के अनेकान्त–सिद्धान्त का आधार है। वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, अतः उसे अनैकान्तिक–शैली में ही परिभाषित किया जा सकता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वस्तुतत्त्व की अनन्त–धर्मात्मकता और अनैकान्तिकता में कौन प्रथम है? वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता में उसकी अनैकान्तिकता और उसकी अनैकान्तिकता में उसकी अनन्तधर्मात्मकता सन्निहित है। यह एक अनुभूत सत्य है कि वस्तु में न केवल विभिन्न गुणधर्मों की प्रतीति होती है, अपितु उसमें अनेक विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। एक ही आम्रफल कभी खट्टा, कभी मीठा और कभी खट्टा–मीठा होता है। एक पत्ती, जो प्रारम्भिक–अवस्था में लाल प्रतीत होती है, वही कालान्तर में हरी और फिर सूखकर पीली हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुतत्त्व अपने में विविधता लिये हुए है। उसके विविध गुणधर्मों में समय–समय पर कुछ प्रकट और कुछ गौण बने रहते हैं, यही वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता है और वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म–युगलों का पाया जाना उसकी अनैकान्तिकता है । द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विचार करें, तो जो सत् है वही असत् भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है। इससे सिद्ध है कि वस्तु न केवल अनन्त धर्मों का पुंज है, बल्कि उसमें एक ही समय में परस्पर विरोधी गुणधर्म भी पाये जाते हैं। पुनः, वस्तु के स्वस्वरूप का निर्धारण केवल भावात्मक–गुणों के आधार पर नहीं होता, बल्कि उसके अभावात्मक–गुणों का भी निश्चय करना होता है। गाय को गाय होने के लिए उसमें गोत्व की उपस्थिति के साथ–साथ

महिषत्व, अश्वत्व आदि का अभाव होना भी आवश्यक है। गाय गाय है– यह निश्चय तभी होगा, जब हम यह निश्चय कर लें कि उसमें गाय के विशिष्ट गुणधर्म पाये जाते हैं और बकरी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते हैं, इसलिए प्रत्येक वस्तु में जहाँ अनेकानेक भावात्मक–धर्म होते हैं, उसमें अनन्तानन्त अभावात्मक–धर्म भी होते हैं, अनेकानेक धर्मों का सद्भाव और उससे कई गुना अधिक धर्मों का अभाव मिलकर ही उस वस्तु का स्वलक्षण बनाते हैं। भाव और अभाव मिलकर ही वस्तु के स्वरूप को निश्चित करते हैं। वस्तु इस–इस प्रकार की है और इस–इस प्रकार की नहीं है, इसी से वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है।

वस्तुतत्त्व की अनैकांतिकता

वस्तु या सत् की परिभाषा को लेकर विभिन्न दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। जहाँ औपनिषदिक और शांकर–वेदान्तदर्शन 'सत्' को केवल कूटस्थनित्य मानता है, वहाँ बौद्धदर्शन वस्तु को निरन्वय, क्षणिक और उत्पाद–व्ययधर्मा मानता है। सांख्यदर्शन का दृष्टिकोण तीसरा है। वह जहां चेतन सत्ता पुरुष को कूटस्थ–नित्य मानता है, वहीं जड़–तत्त्व प्रकृति को परिणामी–नित्य मानता है। न्याय–वैशेषिक–दर्शन जहाँ परमाणु, आत्मा आदि द्रव्यों को कूटस्थ–नित्य मानता है, वहीं घट–पट आदि पदार्थों को मात्र उत्पाद–व्ययधर्मा मानता है। इस प्रकार, वस्तुतत्त्व की परिभाषा के सन्दर्भ में विभिन्न दर्शन अलग–अलग दृष्टिकोण अपनाते हैं। जैनदर्शन इन समस्त एकान्तिक–अवधारणाओं को समन्वित करता हुआ सत् या वस्तुतत्त्व को अपनी अनैकान्तिक–शैली में परिभाषित करता है।

जैनदर्शन में आगम–युग से ही वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक–शैली में परिभाषित किया जाता रहा है। जैनदर्शन में तीर्थंकरों को त्रिपदी का प्रवक्ता कहा गया है। वे वस्तु–तत्त्व को "उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"– इन तीन पदों के द्वारा परिभाषित करते हैं। उनके द्वारा वस्तुतत्त्व को अनेकधर्मा और अनैकांतिक रूप में ही परिभाषित किया गया है। उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्यता आदि इन विरोधी गुणधर्मों में ऐसा नहीं है कि उत्पन्न कोई दूसरा होता है, विनष्ट कोई दूसरा होता है। वस्तुतः, जैनों के अनुसार, जो

उत्पन्न होता है, वही विनष्ट होता है और जो सत्ता एक पर्यायरूप में विनष्ट हो रही है, वही दूसरी पर्याय के रूप में उत्पन्न भी हो रही है और पर्यायों के उत्पत्ति और विनाश के इस क्रम में भी उसके स्वलक्षणों का अस्तित्व बना रहता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (5.29) में "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्" कहकर वस्तु के इसी अनैकान्तिक– स्वरूप को स्पष्ट किया है।

प्रायः यह कहा जाता है कि उत्पत्ति और विनाश का सम्बन्ध पर्यायों से है। द्रव्य तो नित्य ही है, पर्याय परिवर्तित होती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि द्रव्य, गुण और पर्याय विविक्त सत्ताएं नहीं हैं, अपितु एक ही सत्ता की अभिव्यक्तियां हैं। न तो गुण और पर्याय से पृथक् द्रव्य होता है और न द्रव्य से पृथक् गुण और पर्याय ही, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र (5. 37) में 'गुणपर्यायवत् द्रव्यम्' कहकर द्रव्य को परिभाषित किया गया है। द्रव्य की परिणाम–जननशक्ति को ही गुण कहा जाता है और गुणजन्य परिणाम–विशेष पर्याय है। यद्यपि गुण और पर्याय में कार्य–कारण–भाव है, किन्तु यहाँ यह कार्य–कारण–भाव परस्पर भिन्न सत्ताओं में न होकर एक ही सत्ता में है। कार्य और कारण परस्पर भिन्न न होकर भिन्नाभिन्न ही हैं। द्रव्य उसकी अंशभूत शक्तियों के उत्पन्न और विनष्ट न होने पर नित्य अर्थात् ध्रुव है, परन्तु प्रत्येक पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होती है, इसलिए वह सादि और सान्त भी है। क्योंकि द्रव्य का ही पर्याय रूप में परिणमन होता है, इसलिए द्रव्य को ध्रुव मानते हुए भी अपनी परिणमनशीलता गुण के कारण उत्पाद–व्ययय्युक्त भी कहा गया है। चूँकि पर्याय और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं हैं और द्रव्य गुण और पर्यायों से पृथक् नहीं है, अतः यह मानना होगा कि जो नित्य है, वही परिवर्तनशील भी है अर्थात् अनित्य भी है। यही वस्तु या सत्ता की अनैकान्तिकता है और इसी के आधार पर लोक–व्यवहार चलता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उत्पाद–व्ययात्मकता और ध्रौव्यता अथवा नित्यता और अनित्यता परस्पर विरुद्ध धर्म होने से एक ही साथ एक वस्तु में नहीं हो सकते। यह कथन कि जो नित्य है, वही अनित्य भी है, जो परिवर्तनशील है, वही अपरिवर्तनशील भी है, तार्किक– दृष्टि से

विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है और यही कारण है कि बौद्धों और वेदान्तियों ने इस अनेकान्त–दृष्टि को अनर्गल प्रलाप कहा है, किन्तु अनुभव के स्तर पर इनमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। एक ही व्यक्ति बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। इन विभिन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप उसके शरीर, ज्ञान, बुद्धि, बल आदि में स्पष्ट रूप से परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, फिर भी उसे वही व्यक्ति माना जाता है। जो बालक था, वही युवा हुआ और वही वृद्ध होगा। अतः, जैनों ने वस्तु को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक कहकर जो इसका अनैकान्तिक–स्वरूप निश्चित किया है, वह भले ही तार्किक–दृष्टि से आत्मविरोधी प्रतीत होता हो, किन्तु आनुभविक–स्तर पर उसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति बदलकर भी नहीं बदलता, उसी प्रकार वस्तु भी परिवर्तनों के बीच वही बनी रहती है।

जैनों के अनुसार, नित्यता और परिवर्तनशीलता में कोई आत्मविरोध नहीं है। वस्तु के अपने स्वलक्षण स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन को प्राप्त करते हैं। अस्तित्व या सत्ता की दृष्टि से द्रव्य नित्य है, किन्तु पर्यायों की अपेक्षा से उसमें अनित्यता परिलक्षित होती है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक माना जायेगा, तो उसमें यह अनुभव कभी नहीं होगा कि यह वही है। यह वही है– ऐसा प्रत्यभिज्ञान तो तभी सम्भव हो सकता है, जब वस्तु में ध्रौव्यता को स्वीकार किया जाय। जिस प्रकार, वस्तु की पर्यायों में होने वाला परिवर्तन अनुभूत सत्य है, उसी प्रकार 'वह वही है'– इस रूप में होने वाला प्रत्यभिज्ञान अनुभूत सत्य है। एक व्यक्ति बालभाव का त्याग करके युवावस्था को प्राप्त करता है– इस घटना में बालभाव का क्रमिक विनाश और युवावस्था की क्रमिक उत्पत्ति हो रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि 'वह' जो बालक था, 'वही' युवा हुआ है और यह 'वही' होना ही ध्रौव्यत्व है। इस प्रकार, वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक मानने का अर्थ है– वह न केवल अनन्त गुणधर्मों का पुंज है, अपितु उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्म भी अपेक्षा–विशेष से एक साथ उपस्थित रहते हैं।

अस्तित्व नास्तित्वपूर्वक है और नास्तित्व अस्तित्वपूर्वक है। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य–दृष्टि से नित्य है,

वही पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है, उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है, अन्यथा उत्पत्ति संभव नहीं है। पुनः, उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है, अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा? क्योंकि विश्व में विनाश के अभाव में उत्पत्ति जैसी भी कोई स्थिति नहीं है। यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति–विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की व्याख्या असम्भव है। यही कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य में समन्वय किया, उदाहरणार्थ– भगवतीसूत्र में स्वयं भगवान् महावीर से गौतम ने यह पूछा कि हे भगवन् ! जीवन नित्य या अनित्य है? तो उन्होंने कहा– हे गौतम! जीव अपेक्षाभेद से नित्य भी और अनित्य भी। भगवन्! यह कैसे? हे गौतम! द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है, पर्याय–दृष्टि से अनित्य। इसी प्रकार, एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल को कहा था – हे सोमिल ! द्रव्य–दृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु परिवर्तनशील चेतनाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूँ (भगवतीसूत्र 7.3.273)।

वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम विरोधी धर्म–युगल मान लेते हैं, उनमें सर्वथा या निरपेक्ष रूप से विरोध नहीं है। अपेक्षा–भेद से उनका एक ही वस्तुतत्त्व में एक ही समय में होना सम्भव है। भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति छोटा या बड़ा कहा जा सकता है, अथवा एक ही वस्तु ठण्डी या गरम कही जा सकती है। जो संखिया जनसाधारण की दृष्टि में विष (प्राणापहारी) है, वही एक वैद्य की दृष्टि में औषधि (जीवन–संजीवनी) भी है। अतः, यह एक अनुभवजन्य सत्य है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म–युगलों की उपस्थिति देखी जाती है। यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म– युगलों की उपस्थिति तो होती है, किन्तु सभी विरोधी धर्म–युगलों की उपस्थिति नहीं होती है। इस सम्बन्ध में धवला का निम्न कथन द्रष्टव्य है–"यदि (वस्तु में) सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाये, तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा, अतः यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि वस्तु में केवल वे ही

विरोधी धर्म–युगल युगपत् रूप में रह सकते हैं, जिनका उस वस्तु में अत्यन्ताभाव नहीं है, किन्तु इस बात से वस्तुतत्त्व का अनन्तधर्मात्मक स्वरूप खण्डित नहीं होता है और वस्तुतत्त्व में नित्यता–अनित्यता, एकत्व–अनेकत्व, अस्तित्व–नास्तित्व, भेदत्व–अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्मयुगलों की युगपत् उपस्थिति मानी जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र 'समयसार' की टीका में लिखते हैं कि अपेक्षा–भेद से जो है, वही नहीं भी है, जो सत् है, वह असत् भी है, जो एक है, वह अनेक भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है– यदेव तत् तदेव अतत् (समयसार टीका)। वस्तु एकान्तिक न होकर अनैकान्तिक है। आचार्य हेमचन्द्र अन्ययोग–व्यवच्छेदिका (5) में लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएं स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

यद्यपि वस्तुतत्त्व का यह अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक स्वरूप हमें असमंजस में अवश्य डाल देता है, किन्तु यदि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है, तो हम क्या करें? बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति के शब्दों में– 'यदिदं' स्वयमर्थेभ्यो रोचते के वयं'? पुनः, हम जिस वस्तु या द्रव्य की विवेचना करना चाहते हैं, वह है क्या? जहाँ एक ओर द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर, उसे गुणों का समूह भी कहा गया है । गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य की और द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की कोई सत्ता नहीं है। यह है वस्तु की सापेक्षिकता और यदि वस्तुतत्त्व सापेक्षिक, अनन्तधर्मात्मक और अनैकान्तिक है, तो फिर उसका ज्ञान एवं उसकी विवेचना निरपेक्ष एवं एकान्तिक–दृष्टि से कैसे सम्भव है? इसलिए जैन आचार्यों का कथन है कि (अनन्तधर्मात्मक) मिश्रित तत्त्व की विवेचना बिना अपेक्षा के सम्भव नहीं है (अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड–4, पृ.1833)।

मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों का स्वरूप

यह तो हुई वस्तु स्वरूप की बातें, किन्तु जिस वस्तु–स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास साधन क्या हैं, हमें उन साधनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। मनुष्य के पास अपनी सत्याभीप्सा और जिज्ञासा की सन्तुष्टि

के लिए ज्ञान–प्राप्ति के दो साधन हैं–

1. इन्द्रियाँ और 2. तर्कबुद्धि ।

मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों द्वारा वस्तुतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है। जहाँ तक मानव के ऐन्द्रिक–ज्ञान का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक–ज्ञान न पूर्ण है और न निरपेक्ष। मानव–इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, अतः वे वस्तुतत्त्व का जो भी स्वरूप जान पाती हैं, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ वस्तु को अपने पूर्ण स्वरूप में देख पाने में सक्षम नहीं हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम वस्तुतत्त्व को जिस रूप में वह है, वैसा नहीं जानकर, उसे जिस रूप में इन्द्रियां हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं, उसी रूप में जानते हैं। हम इन्द्रिय–संवेदना को जान पाते हैं, वस्तुतत्त्व को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा आनुभविक–ज्ञान इन्द्रिय–सापेक्ष है। मात्र इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय–सापेक्ष होने के साथ–साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है, जहाँ से वस्तु देखी जा रही है और यदि हम उस कोण (स्थिति) के विचार को अपने ज्ञान से अलग करते हैं, तो निश्चित ही हमारा ज्ञान भ्रान्त हो जायेगा, उदाहरणार्थ– एक गोल सिक्का अपने अनेक कोणों से हमें वृत्ताकार न लगकर अण्डाकार दिखाई देता है। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों एवं विभिन्न शारीरिक–स्थितियों से एक ही वस्तु हल्की या भारी प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी को जब हम उसके गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर जाकर देखते हैं, तो गतिशील दिखाई देती है, किन्तु यहाँ वह हमें स्थिर प्रतीत होती है। दूर से देखने पर वस्तु छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है। एक टेबल के जब विविध कोणों से फोटो लिए जाते हैं, तो वे परस्पर भिन्न–भिन्न होते हैं। इस प्रकार, हमारा सारा आनुभविक–ज्ञान सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। इन्द्रिय– संवेदनों को उन सब अपेक्षाओं से अलग हटकर नहीं समझा जा सकता है, जिनमें कि वे हुए हैं। अतः, ऐन्द्रिकज्ञान दिक्, काल और व्यक्ति–सापेक्ष ही होता है।

किन्तु, मानव–मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति के ज्ञान को ही अन्तिम सत्य मानकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह उस प्रतीति के पीछे भी झांकना चाहता है। इस हेतु वह अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है, किन्तु

क्या तार्किक–ज्ञान निरपेक्ष हो सकता है? प्रथम तो, तार्किक–ज्ञान भी पूरी तरह से इन्द्रिय–संवेदना से निरपेक्ष नहीं होता है, दूसरे, तार्किक–ज्ञान वस्तुतः एक सम्बन्धात्मक–ज्ञान है। बौद्धिक–चिन्तन कारण–कार्य, एक–अनेक, अस्ति–नास्ति आदि विचार–विधाओं से घिरा हुआ है और अपनी इन विधाओं के आधार पर वह सोपक्ष ही होगा। तर्कबुद्धि जब भी किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय कर कोई निर्णय प्रस्तुत करती है, तो वह हमें दो तथ्यों के बीच किसी सम्बन्ध या असम्बन्ध की ही सूचना प्रदान करती है और ऐसा सम्बन्धात्मक–ज्ञान सम्बन्ध–सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं, क्योंकि सभी सम्बन्ध सापेक्ष होते हैं।

मानवीय–ज्ञान की सीमितता एवं सापेक्षता

वस्तुतः, वस्तुतत्त्व का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमता वाले मानव के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाये हैं और जब इस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है, तो वह सत्य सत्य न रहकर असत्य बन जाता है। वस्तुतत्त्व न केवल उतना ही है, जितना कि हम इसे जान पा रहे हैं, बल्कि वह इससे इतर भी है। मनुष्य की ऐन्द्रिक–ज्ञानक्षमता एवं तर्कबुद्धि इतनी अपूर्ण है कि वह सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती, अतः साधारण मानव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। जैन–दृष्टि के अनुसार, सत्य अज्ञेय तो नहीं है, किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त किये उसे पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि 'हम केवल सापेक्षिक–सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष– सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा और ऐसी स्थिति में, जबकि हमारा समस्त ज्ञान आंशिक, अपूर्ण तथा सापेक्षिक है, हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरी दृष्टि ही एक–मात्र सत्य है और सत्य मेरे ही पास है। हमारा आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक–ज्ञान निरपेक्ष–सत्यता का दावा नहीं कर सकता है, अतः ऐसे ज्ञान के लिए हमें ऐसी कथन–पद्धति की योजना करनी होगी, जो कि दूसरों के अनुभूत सत्यों का निषेध नहीं करते हुए

अपनी बात कह सके। हम अपने ज्ञान की सीमितता के कारण अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं कर सकते हैं ।

क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है?

यद्यपि जैन–दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है? इस सन्दर्भ में जैन–दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन–विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं, जबकि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। पं. दलसुखभाई मालवणिया ने 'स्याद्वादमंजरी' की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है, जबकि मुनि श्री नगराजजी ने 'जैन–दर्शन और आधुनिक विज्ञान' नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है, क्योंकि स्यादस्ति, स्यान्नास्ति से परे वह भी नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ तक सर्वज्ञ के वस्तु–जगत् के ज्ञान का प्रश्न है, उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनन्त–धर्मात्मक वस्तु है, अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक–ज्ञान कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो? इसीलिए जैन–आचार्यों का कथन है कि दीप से लेकर व्योम तक वस्तु–मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित हो, किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ तक सर्वज्ञ के आत्म–बोध का प्रश्न है, वह निरपेक्ष हो सकता है, क्योंकि वह विकल्परहित होता है। सम्भवतः, इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहारदृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है, किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। सर्वज्ञ का आत्म–बोध तो निरपेक्ष होता है, किन्तु उसका वस्तु–विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

भाषा की अभिव्यक्ति–सामर्थ्य की सीमितता और सापेक्षता

सर्वज्ञ या पूर्ण के लिए भी, जो सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता

है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो, किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, तो वह सापेक्षिक बन जाता है, क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसी भाषा का सहारा लेना होता है, जो कि सीमित एवं अपूर्ण है, 'है' और 'नहीं हैं' की सीमा से घिरी हुई है। अतः, भाषा पूर्ण सत्य को निरपेक्षतया अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रथम तो, वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, जबकि मानवीय–भाषा की शब्द–संख्या सीमित है। जितने वस्तु–धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हैं, अतः अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) रहेंगे ही। पुनः, मानव की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उन सबके लिए भी भाषा में पृथक्–पृथक् शब्द नहीं हैं। हम गुड़, शकर, आम आदि की मिठास को भाषा में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि सभी की मिठास के लिए अलग–अलग शब्द नहीं हैं। आचार्य नेमिचन्द्र 'गोम्मटसार' में लिखते हैं कि हमारे अनुभूत भावों का केवल अनन्तवां भाग ही कथनीय होता है और जितना कथनीय है, उसका भी एक अंश ही भाषा में निबद्ध करके लिखा जाता है (गोम्मटसार–जीवकाण्ड 334)। चाहे निरपेक्ष ज्ञान को सम्भव भी मान लिया जाए, किन्तु निरपेक्ष कथन तो कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है, वह किसी–न–किसी सन्दर्भ में कहा जाता है और उस सन्दर्भ में ही उसे ठीक प्रकार से समझा जा सकता है, अन्यथा भ्रान्ति होने की संभावना रहती है, इसीलिए जैन– आचार्यों का कथन है कि जगत् में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह सब किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है। जिन या सर्वज्ञ की वाणी भी अपेक्षारहित नहीं होती है, वह सापेक्ष ही होती है, अतः वक्ता का कथन समझने के लिए भी अपेक्षा का विचार आवश्यक है।

पुनश्च, जब वस्तुतत्त्व में अनेक विरुद्ध धर्म–युगल भी रहे हुए हैं, तो शब्दों द्वारा उनका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उन्हें क्रमिक रूप में ही कहा जा सकता है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के समस्त धर्मों का एक साथ कथन भाषा की सीमा के बाहर है, अतः किसी भी कथन में वस्तु के अनेक

धर्म अनुक्त (अकथित) ही रह जायेंगे और एक निरपेक्ष कथन अनुक्त धर्मों का निषेध करने के कारण असत्य हो जायेगा। हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन–व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो, इसलिए सापेक्षिक–कथन–पद्धति ही समुचित हो सकती है। जैनाचार्यों ने 'स्यात्' को सत्य का चिह्न इसीलिए कहा है कि वह अपेक्षापूर्वक कथन करके हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है तथा श्रोता को कोई भ्रान्ति भी नहीं होने देता है।

स्याद्वाद और अनेकान्त

साधारणतया, अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं। अनेक जैनाचार्यों ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है, किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है। जैनाचार्यों ने दोनों में व्यापक–व्याप्य–भाव माना है। अनेकान्तवाद व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है, तो स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है, तो स्याद्वाद उस अनैकान्तिक वस्तु–स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा–पद्धति। अनेकान्त दर्शन है, तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

विभज्यवाद और स्याद्वाद

विभज्यवाद स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यायवाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग (1.1.4.22) में महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें। इसी प्रकार, भगवान् बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभाज्यवादी हूँ, एकान्तवादी नहीं। विभज्यवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभा0जित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी हैं, तो आराधक नहीं हो सकते, किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं, तो दोनों ही आराधक हो सकते हैं (मज्झिम नि.–19)। इसी प्रकार, जब महावीर से जयंती ने यह पूछा कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों को सोना

अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना (भगवतीसूत्र 12. 2. 442)। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना विभज्यवाद है। प्रश्नों के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक–शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्यवाद ही आगे चलकर शून्यवाद और स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

शून्यवाद और स्याद्वाद

भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद– इन दोनों को अस्वीकार किया और अपने मार्ग को मध्यम–मार्ग कहा, जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधि–मार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन–परम्परा में विकसित स्याद्वाद–दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक–दार्शनिक–विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान–दृष्टि है, वहीं स्याद्वाद में एक विधायक–दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृत्ति–सत्य और परमार्थ–सत्य के रूप में कहता है, वही बात जैन–दार्शनिक व्यवहार और निश्चय–नय के आधार पर प्रतिपादित करता है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने निष्कर्षों के सम्बन्ध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक है और स्याद्वाद विधानात्मक है। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक–विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं हैं, जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक–रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है, एक भी है और अनेक भी है, सत् भी है और असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी–दोनों ही देखते हैं। इस एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता–शून्यता की धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है, किन्तु जहाँ शून्यवादी

उस दोष के भय से एकान्त को स्वीकार करता है, वहीं स्याद्वादी उसके आगे 'स्यात्' शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बना देता है। दोनों में यदि कोई मौलिक भेद है, तो वह अपनी निषेधात्मक और विधानात्मक–दृष्टियों का ही है। शून्यवाद का वस्तुतत्त्व जहाँ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है, वहीं जैन–दर्शन का वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, किन्तु शून्य और अनन्त का गणित तो समान ही है, वह उस दृष्टि का ही परिणाम है, जो वैचारिक–आग्रहों से जनमानस को मुक्त करने के लिए बुद्ध और महावीर ने प्रस्तुत की थी। बुद्ध के निषेधात्मक–दृष्टिकोण का परिणाम शून्यवाद था, तो महावीर के विधानात्मक–दृष्टिकोण का परिणाम स्याद्वाद।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में परमतत्त्व, आत्मा और लोक के स्वरूप एवं सृष्टि के विषय में अनेक मतवाद प्रचलित थे। यद्यपि औपनिषदिक–ऋषियों ने इनके समन्वय का प्रयत्न किया था, किन्तु वे एक ऐसी दार्शनिक–पद्धति का विकास नहीं कर पाये थे, जो इन मतवादों की दार्शनिक एवं व्यावहारिक–असंगतियों और कठिनाइयों का निराकरण कर सके। ये परस्पर विरोधी दार्शनिक–मत एक–दूसरे की आलोचना में पड़े थे और इसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक–विशुद्धि या राग–द्वेष, आसक्ति या तृष्णा से विमुक्ति का प्रयत्न गौण हो गया था। सभी दार्शनिक–मत एक–दूसरे की आलोचना में पड़े थे और इसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक–विशुद्धि या राग–द्वेष, आसक्ति या तृष्णा से विमुक्ति का प्रश्न गौण था। सभी दार्शनिक–मतवाद अपने–अपने आग्रहों में दृढ़ बनते जा रहे थे, अतः सामान्य मनुष्य की दिग्भ्रान्त स्थिति को समाप्त करने और इन परस्पर विरोधी मतवादों के आग्रही घेरों से मानव को मुक्त करने के लिए बुद्ध व महावीर–दोनों ने प्रयत्न किया, किन्तु दोनों के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण अन्तर था। बुद्ध कह रहे थे कि ये सभी दृष्टिकोण एकान्त हैं, अतः उनमें से किसी को भी स्वीकार करना उचित नहीं है। किसी भी दृष्टि से न जुड़कर तृष्णा–विमुक्ति के हेतु प्रयास कर दुःख–विमुक्ति को प्राप्त करना ही मानव का एकमात्र लक्ष्य है। बुद्ध की इस निषेधात्मक–दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध–दर्शन में आगे चलकर

शून्यवाद का विकास हुआ व सभी दृष्टियों का प्रहाण साधना का एक लक्ष्य बना। दूसरी ओर, महावीर ने इन विविध दार्शनिक–दृष्टियों को नकारने के स्थान पर उनमें निहित सापेक्षिक–सत्यता का दर्शन किया और सभी दृष्टियों को सापेक्ष रूप से अर्थात् विविध नयों के आधार पर सत्य मानने की बात कही। इसी के आधार पर जैन–दार्शनिकों ने अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास किया। बुद्ध एवं महावीर–दोनों का लक्ष्य व्यक्ति को एकान्तिक–अवधारणाओं में पड़ने से बचाना था, किन्तु इनके इस प्रयास में जहां बुद्ध ने उन एकान्तिक–धारणाओं को त्याज्य बताया, वहीं महावीर ने उन्हें सापेक्षिक–सत्य कहकर समन्वित किया।

इससे यह तथ्य फलित होता है कि स्याद्वाद एवं शून्यवाद– दोनों का मूल उद्गम–स्थल एक ही है। विभज्यवादी–पद्धति तक यह धारा एकरूप रही, किन्तु अपनी विधायक एवं निषेधक–दृष्टियों के परिणामस्वरूप दो भागों में विभक्त हो गई, जिन्हें हम स्याद्वाद व शून्यवाद के रूप में जानते हैं।

इस प्रकार, सत्ता के विविध आयामों एवं उसमें निहित सापेक्षिक–विरुद्धधर्मता को देखने का जो प्रयास औपनिषदिक–ऋषियों ने किया था, वही आगे चलकर श्रमण–धारा में स्याद्वाद व शून्यवाद के विकास का आधार बना।

अन्य दार्शनिक–परम्पराएँ और अनेकांतवाद

यह अनेकान्त–दृष्टि श्रमण–परम्परा के अन्य दार्शनिकों में भी प्रकार–भेद से उपलब्ध होती है। संजयवेलट्ठिपुत्र का मन्तव्य बौद्ध–ग्रथों में निम्न रूप से प्राप्त होता है–

(1) है? नहीं कह सकता।

(2) नहीं है? नहीं कह सकता।

(3) है भी और नहीं भी? नहीं कह सकता।

(4) न है और न नहीं है? नहीं कह सकता।

इससे यह फलित होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्र भी एकान्तवादी–दृष्टि के समर्थक नहीं थे। उनकी उत्तर देने की शैली अनेकान्त–दृष्टि की ही

परिचायक है। यही कारण था कि राहुल सांस्कृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान भी किया कि संजयवेलट्ठिपुत्र के दर्शन के आधार पर ही जैनों ने स्याद्वाद व सप्तभंगी का विकास किया, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि संजयवेलट्ठि की यह दृष्टि निषेधात्मक है। अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य सप्तभंगी– नय के ये जो तीन मूल नय हैं, वे तो उपनिषद्–काल से पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं, उपनिषदों में हमें सत्–असत्, उभय व अनुभय, अर्थात् ये चार भंग भी प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषदिक– चिन्तन एवं उसके समानान्तर विकसित श्रमण–परम्परा में यह अनेकान्त– दृष्टि किसी–न–किसी रूप में अवश्य उपस्थित रही है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति की शैली भिन्न है। इस युग के बाद भारतीय–चिन्तन के दार्शनिक–युग में भी विविध दर्शनों ने इस शैली को अपनाया है।

वस्तुतः, वस्तुतत्त्व या परमसत्ता की बहुआयामिता, मानवीय–ज्ञान–सामर्थ्य, भाषाई–अभिव्यक्ति–सामर्थ्य की सीमितता मनुष्य को अनेकान्त–दृष्टि अपनाने के लिए प्रेरित करती रही। वस्तु–स्वरूप के सम्बन्ध में एकान्तिक–उत्तर मानव को संतोष नहीं दे सके। इसका कारण यह था कि मानव अपने ज्ञान के दो साधन–अनूभूति व तर्क में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहता। अनुभव के इस विरोधाभास के समन्वय के प्रयत्न सभी दार्शनिकों ने किये हैं और इन्हीं प्रयत्नों में उन्हें कहीं–न–कहीं अनेकान्त–दृष्टि का सहारा लेना पड़ा। पतंजलि ने महाभाष्य में (व्याड़ी के) इस दृष्टि का उल्लेख किया है। उनके सामने मुख्य प्रश्न था– शब्द नित्य है या अनित्य है। इस संदर्भ में वे व्याड़ी के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि गुण–दोषों की परीक्षा करके तथा प्रयोजन के आधार पर यह बताया गया है कि शब्द नित्य व अनित्य–दोनों है। ज्ञातव्य है कि पतंजलि का परमसत्य शब्द ब्रह्म ही है। उसमें नित्यता व अनित्यता–दोनों को स्वीकार करके वे अन्य रूप में अनेकान्त–दृष्टि का ही प्रतिपादन करते हैं। मात्र यही नहीं, जैनदर्शन में जिस रूप में सत् की अनैकान्तिक–व्याख्या की गयी है, उसी रूप में पतंजलि के महाभाष्य में उन्होंने द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता को विस्तार से प्रतिपादित किया है। पुनः, उन्होंने यह भी माना है कि आकृति भी सर्वथा अनित्य नहीं है। एक घट के नष्ट

होने पर दूसरी घटाकृति तो रहती है। हम यह भी कह सकते हैं कि आकृति चाहे बाह्य रूप में नष्ट हुई हो, किन्तु स्रष्टा के चेतना की आकृति तो बनी रहती है। कुम्हार द्वारा बनाया घड़ा टूट जाता है, किन्तु कुम्हार के मनस में जो घटाकृति है, वह बनी रहती है। महाभाष्यकार ने सत्ता को नित्य मानकर भी उसमें कार्य–रूप में उत्पत्ति व विनाश को स्वीकार किया है। यह इस बात का परिचायक है कि पतंजलि के दर्शन में सत् की *परिणामी–नित्यता की अवधारणा उसी रूप में है, जिस प्रकार जैनदर्शन में* है।

भारतीय–दर्शनों में सांख्य–दर्शन भी एक प्राचीनतम दर्शन है। सांख्य–दर्शन प्रकृतिपरिणामवादी है। वह पुरुष को कूटस्थनित्य मानता है, जबकि प्रकृति को परिवर्तनशील। उसके द्वैतवाद का एक तत्त्व परिवर्तनशील है, तो दूसरा अपरिवर्तनशील है, लेकिन यह अवधारणा मूलतः उस पुरुष के संदर्भ में ही घटित होती है, जो अपने को प्रकृति से पृथक् जान चुका है। शेष चेतन–सत्ताएं, जो प्रकृति के साथ अपने ममत्व को बनाए हुई हैं, वे तो किसी–न–किसी रूप में परिवर्तनशील हैं ही। यही कारण है कि सांख्य अपने सत्कार्यवाद में परिणामवाद को स्वीकार करने को बाध्य हुआ। सांख्य–दर्शन के व्यावहारिक या साधनात्मक–पक्ष योगदर्शन में भी स्पष्ट रूप से वस्तु की विविध धर्मात्मकता स्वीकार की गयी है, जैसे–एक ही स्त्री अपेक्षा–भेद से पत्नी, माता, पुत्री, बहन आदि कही जाती है। दूसरे शब्दों में, एक ही धर्मी अपेक्षा–भेद से अनेक धर्म वाला कहा जाता है। द्रव्य की नित्यता व पर्यायों की अनित्यता भी सांख्य एवं योग–दर्शन में भी उसी रूप में स्वीकृत है, जिस रूप में वह जैन–दर्शन में। यह इस तथ्य का सूचक है कि सत्ता की बहुआयामिता के कारण उसकी अनैकान्तिक–व्याख्या ही अधिक संतोषप्रद लगती है। सांख्य–दर्शन में अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जो परस्पर विरोधी होते हुए भी एक सत्ता के सन्दर्भ में स्वीकृत हैं, जैसे–सांख्यदर्शन में मन को ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय–दोनों माना गया। इसी प्रकार, उसके 25 तत्त्वों में बुद्धि, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं को प्रकृति व विकृति–दोनों कहा गया है, यद्यपि प्रकृति व विकृति–दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार, पुरुष के संदर्भ में भी अपेक्षा–भेद से भोक्तृत्व और

अभोक्तृत्व दोनों स्वीकृत हैं, अथवा प्रकृति में सांसारिक–पुरुषों की अपेक्षा से प्रवृत्यात्मकता व पुरुष की अपेक्षा से निवृत्यात्मकता–दोनों ही स्वभाव स्वीकार किए गये हैं।

मीमांसा–दर्शन में भी द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता उसी प्रकार स्वीकार की गयी, जिस प्रकार वह पातंजल–दर्शन में स्वीकार की गयी। सर्वप्रथम मीमांसा–दर्शन में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञानरूपता वाले त्रिविध ज्ञान को ज्ञान कहा गया। दूसरे शब्दों में, ज्ञान के त्रयात्मक होने पर भी उसे एकात्मक माना। ज्ञान में ज्ञाता स्वयं को; ज्ञान के विषय को और अपने ज्ञान– तीनों को जानता है। ज्ञान में यह त्रयात्मकता रही है, फिर भी उसे ज्ञान ही कहा जाता है। यह ज्ञान की बहुआयामिता का ही एक रूप है। पुनः, मीमांसा–दर्शन में कुमारिल ने स्वयं ही सामान्य व विशेष में कथंचित्–तादात्म्य एवं कथंचित्–भेद धर्म–धर्मी की अपेक्षा से भेदाभेद माना है। मीमांसाश्लोकवार्त्तिक में वस्तु की उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यता को इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है, जिस प्रकार से उसे जैन–परम्परा में प्रतिपादित किया गया है।

जब स्वर्णकलश को तोड़कर कुण्डल बनाया जाता है, तो जिसे कलश की अपेक्षा है, उसे दुःख व जिसे कुण्डल की अपेक्षा है, उसे सुख होता है, किन्तु जिसे स्वर्ण की अपेक्षा है, उसे माध्यस्थभाव है। वस्तु की यह त्रयात्मकता जैन व मीमांसा– दोनों दर्शनों में स्वीकृत है। चाहे शांकर–वेदान्त अपने अद्वैतवाद के परिप्रेक्ष्य में परमसत्ता को अपरिणामी मानता हो, किन्तु उसे भी अन्त में परमार्थ और व्यवहार– इन दो दृष्टियों को स्वीकार करके परोक्ष रूप से अनेकान्त–दृष्टि को स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि उसके अभाव में इस परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं थी। इस प्रकार, सभी भारतीय–दर्शन किसी–न–किसी रूप में अनेकांत–शैली को स्वीकार करते हैं।

जैन–परम्परा में अनेकान्तवाद का विकास

जैनदर्शन में अनेकान्त–दृष्टि की उपस्थिति अति प्राचीन है। जैन–साहित्य में आचारांग अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ है। इसमें भी हमें 'जे

आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा तो आसवा, अर्थात्, जो आस्रव के कारण हैं, वे ही निर्जरा के कारण बन जाते हैं और जो निर्जरा के कारण हैं, वे आस्रव के कारण बन जाते हैं– यह कहकर उसी अनेकान्त–दृष्टि का परिचय दिया गया है। आचारांग के बाद स्थानांग में मुनि के लिए विभज्यवाद का आश्रय लेकर ही कोई कथन करने की बात कही गई। यह सुनिश्चित है कि विभज्यवाद स्याद्वाद एवं शून्यवाद का पूर्वज है और वह भी अनेकान्त–दृष्टि का परिचायक है। वह यह बताता है कि किसी भी प्रश्न का उत्तर विभिन्न अपेक्षाओं से भिन्न–भिन्न रूप में दिया जा सकता है और वे सभी उत्तर अपेक्षाभेद से सफल हो सकते हैं। भगवतीसूत्र में इस प्रकार के अनेकों प्रश्नोत्तर संकलित हैं, जो विभज्यवाद के आधार पर व्याख्यायित हैं। भगवतीसूत्र में हमें नय–दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमें द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय व व्यवहारनय का आधार लेकर अनेक कथन किए गए हैं। निश्चय व व्यवहारनय का ही अगला विकास नैगम आदि पांच नयों और फिर सात नयों में हुआ। यद्यपि नयों की यह विवेचना ई. सन् की दूसरी–तीसरी शती के बा॰ के ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलती है, किन्तु इसमें एकरूपता लगभग तीसरी शती के बाद आयी है। आज जो सात नय हैं, उनमें उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में एवं भूतबलि और पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम में मूल में पांच को ही स्वीकार किया था। सिद्धसेन ने सात में से नैगम को स्वतंत्र नय न मानकर छः नयों की अवधारणा प्रस्तुत की थी। वैसे नयों की संख्या के बारे में सिद्धसेन आदि आचार्यों का दृष्टिकोण अति उदार रहा है। उन्होंने अन्त में यहाँ तक कह दिया कि जितने–वचन भेद हो सकते हैं, उतने नय हो सकते हैं। कुन्दकुन्द के बाद के दिगम्बर–आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शुद्धनय व अशुद्धनय को निश्चयनय का ही भेद मानते हुए उन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख किया। बाद में, पं. राजमल ने इसमें उपचार को सम्मिलित करके निश्चय व व्यवहार–नयों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया। इस प्रकार, नयों के सिद्धांत का विकास हुआ।

जहाँ तक सप्तभंगी का प्रश्न है, वह भी एक परवर्ती विकास ही है। यद्यपि सप्तभंगी का आधार महावीर की अनैकान्तिक व समन्वयवादी–दृष्टि

ही है, फिर भी सप्तभंगी का पूर्ण विकास परवर्ती है। भगवतीसूत्र में इन भांगों पर अनेक प्रकार से चिन्तन किया गया है। उसमें मूल नय तो तीन ही रहे हैं– अस्ति, नास्ति व अवक्तव्य, किन्तु उनसे अपेक्षा–भेद के आधार पर और विविध संयोगों के आधार पर अनेक भंगों की योजना मिलती है। उसमें षडप्रदेशीय भंगों भी अपेक्षा से तेईस भंगों की योजना भी की गयी हैं। सर्वप्रथम, सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति–प्रकरण (प्रथमकाण्ड, गाथा 36) में सांयोगिक–भंगों की चर्चा की है। वहाँ सात भंग बनते हैं। सात भंगों का स्पष्ट प्रतिपादन हमें समंतभद्र, कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर–आचार्यों में मिलने लगता है। यह स्पष्ट है कि सप्तभंगी का सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिक–प्रतिपादन लगभग 5 वीं शती के बाद ही हुआ है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके पूर्व भंगों की अवधारणा नहीं थी। भंगों की अवधारणा तो इसके भी पूर्व में हमें मिलती है, किन्तु सप्तभंगी की एक सुव्यवस्थित योजना पांचवीं शती के बाद अस्तित्व में आयी। स्याद्वाद एवं सप्तभंगी, अनेकान्तवाद की भाषायी–अभिव्यक्ति के प्रारूप हैं।

अनेकांतवाद का सैद्धान्तिक–पक्ष : स्याद्वाद

स्याद्वाद का अर्थ–विश्लेषण :

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद'– इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है, अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ– विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ–सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी–भाषा में स्यात् का अर्थ 'शायद', 'सम्भवतः', 'कदाचित्' और अंग्रेजी भाषा में आदि किया गया है और इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद, सम्भव आदि भी होता है, किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रान्ति ही होगी। हमें यहाँ इस बात को भी स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक

अर्थ हो सकते हैं, दूसरे, अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे– जैन–परम्परा में धर्म शब्द का प्रयोग धर्म–द्रव्य के रूप में भी होता है। जैन–आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद सम्बन्धी किसी भी मूल ग्रन्थ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् शब्द का जैन–परम्परा में क्या अर्थ है– यह स्पष्ट हो जाता। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे तिङन्त पद मान लेना है, जबकि समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचन्द, मल्लिषेण आदि सभी जैन–आचार्यों ने इसे निपात या अव्यय माना है। समन्तभद्र स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात्– यह निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में अनेकान्तता का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है (आप्तमीमांसा–103)। इसी प्रकार, पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'स्यात्' एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक निपात शब्द है (पंचास्तिकाय टीका)।

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन–विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनैकान्तिक, किन्तु निश्चयात्मक–अर्थ का द्योतक है। मात्र इतना ही नहीं, जैन–दार्शनिक इस सम्बन्ध में भी सजग थे कि आलोचक या जन–साधारण द्वारा स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने स्यात् शब्द के साथ 'एव' शब्द के प्रयोग की योजना भी की है, जैसे– 'स्यादस्त्येव घटः', अर्थात्, किसी अपेक्षा से यह घड़ा ही है। यह स्पष्ट है कि 'एव' शब्द निश्चयात्मकता का द्योतक है। 'स्यात्' तथा 'एव' शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता की संशयात्मकता का द्योतक है। 'स्यात्' तथा 'एव' शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता को संशयात्मकता को समाप्त कर उसे सापेक्षिक किन्तु निश्चित ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः, इस प्रयोग में 'एव' शब्द 'स्यात' शब्द की अनिश्चितता को समाप्त कर देता है और इस प्रकार

वे दोनों मिलकर कथित वस्तु–धर्म की सीमा नियत करते हुए सापेक्ष किन्तु निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। अतः, स्याद्वाद को संशयवाद या सम्भावनावाद नहीं कहा जा सकता है। 'वाद' शब्द का अर्थ कथनविधि है। इस प्रकार, स्याद्वाद सापेक्षिक कथन पद्धति या सापेक्षिक–निर्णय–पद्धति का सूचक है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुतत्त्व के विविध निर्णयों को इस प्रकार की भाषा में प्रस्तुत करता है कि वे अपने पक्ष की स्थापना करते हुए भी वस्तुतत्त्व में निहित अन्य 'अनुक्त' अनेकानेक धर्मों एवं सम्भावनाओं (पर्यायों) का निषेध न करें। वस्तुतः स्याद्वाद हमारे निर्णयों एवं तज्जनित कथनों को प्रस्तुत करने का एक निर्दोष एवं अहिंसक तरीका है, अविरोधपूर्वक कथन की एक शैली है। उसका प्रत्येक भंग अनैकान्तिक ढंग से एकान्तिक कथन करता है, जिसमें वक्ता अपनी बात इस ढंग से कहता है कि उसका वह कथन अपने प्रतिपक्षी कथनों का पूर्ण निषेधक न बने। संक्षेप में, स्याद्वाद अपने समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक्–एकांत है। सप्तभंगी अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के संबंध में एक ऐसी कथन–पद्धति या वाक्य– योजना है, जो उसमें अनुक्त धर्मों की संभावना का निषेध न करते हुए सापेक्षिक किन्तु निश्चयात्मक–ढंग से वस्तुतत्त्व के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रखते हुए उसके किसी एक धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन या निषेध करती है। इसी प्रकार, अनेकान्तवाद भी वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में एकाधिक निर्णयों को स्वीकृत करता है। वह कहता है कि एक ही वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर अनेक निर्णय (कथन) दिये जा सकते हैं, अर्थात् अनेकान्त वस्तु–स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक निर्णयों या निष्कर्षों की सम्भाव्यता का सिद्धांत है। जैनाचार्यों ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोंअनेकांतः', अर्थात्, अनेकांत मात्र एकांत का निषेध है और वस्तु में निहित परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रकाशन है।

स्याद्वाद के आधार

सम्भवतः, यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षिक–कथन–पद्धति की क्या आवश्यकता है? स्याद्वाद या

सापेक्षिक–कथन–पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं–

1. वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता,
2. मानवीय–ज्ञान–प्राप्ति के साधनों की सीमितता,
3. मानवीय–ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षता, तथा
4. भाषा के अभिव्यक्ति–सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता।

अनेकांतवाद का भाषिक–पक्ष : सप्तभंगी

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी–अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि–निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। 'है' और 'नहीं है' हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं, किन्तु कभी–कभी हम अपनी बात की स्पष्टता 'है' (विधि) और 'नहीं है' (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं, अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को करने में असमर्थ होती हैं। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प 'अवाच्य' या अवक्तव्य' का सहारा लेते हैं, अर्थात् शब्दों के माध्यम से 'है' और 'नहीं है' की भाषायी सीमा में बाँधकर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार, विधि, निषेध और अवक्तव्यता से जो सात प्रकार का वचन–विन्यास बनता है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात अवक्तव्य– ये तीन असंयोगी मौलिक भंग हैं, शेष चार भंग इन तीनों के संयोग से बनते हैं। उनमें स्यात् अस्ति–नास्ति, स्यात् अस्ति–अवक्तव्य और स्यात् नास्ति– अवक्तव्य– ये तीन द्विसंयोगी और अन्तिम, स्यात्– अस्ति– नास्ति– अवक्तव्य– यह त्रिसंयोगी भंग है। निर्णयों की भाषायी–अभिव्यक्ति विधि, निषेध और अवक्तव्य– इन तीन ही रूपों में होती है, अतः उससे तीन ही मौलिक भंग बनते हैं और इन तीन मौलिक भंगों में से गणित–शास्त्र के संयोग–नियम के आधार पर सात भंग ही बनते हैं, न कम, न अधिक। अष्टसहस्री टीका में आचार्य विद्यानन्दि ने इसीलिए यह कहा है कि जिज्ञासा और संशय और उनके समाधान सप्त प्रकार के ही हो सकते हैं। अतः, जैन–आचार्यों की सप्तभंगी की यह व्यवस्था निर्मूल नहीं है। वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक को लेकर एक–एक सप्तभंगी और इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियाँ

तो बनाई जा सकती हैं, किन्तु अनन्तभंगी नहीं। श्वेताम्बर–आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी–स्कन्ध के संबंध में जो 23 भंगों की योजना है, वह वचन–भेद कृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूल भंग सात ही हैं। पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि प्राचीन दिगम्बर–आगम–ग्रन्थों में और शेष परवर्ती–साहित्य में सप्तभंग ही मान्य रहे हैं, अतः विद्वानों को इन भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिये कि ऐसे संयोगों से सप्तभंगी ही क्यों, अनन्तभंगी भी हो सकती हैं, अथवा आगमों में सात भंग नहीं हैं, अथवा सप्तभंगी भी एक परवर्ती विकास है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक–निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में स्यात्, अस्ति आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक–आहार–मात्र हैं। उसमें स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक और निषेधात्मक होने के सूचक हैं। कुछ जैन–विद्वान् अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं, किन्तु यह दृष्टिकोण जैनदर्शन को मान्य नहीं हो सकता, उदाहरण के लिए– जैनदर्शन में आत्मा भावरूप है, वह अभावरूप नहीं हो सकता है। अतः, हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने–आप में कोई कथन नहीं हैं, अपितु कथन के तार्किक–आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय–पदों का उल्लेख आवश्यक है, जैसे– स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा– द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्यात् आत्मा है, तो हमारा कथन भ्रमपूर्ण होगा। अपेक्षा और विधेय–पद के उल्लेख के अभाव में सप्तभंगी के आधार पर किये गये कथन अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं, जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है।

आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक

सापेक्षिव
जा सक
उसे निग

सप्त

चिह्न	अर्थ
⊃	यदि- तो (हेतुफलाश्रित कथन)
अ	अपेक्षा (दृष्टिकोण)
●	संयोजन (और)
य	युगपत् (एकसाथ)
∞	अनन्तत्व
~	व्याघातक
उ	उद्देश्य
वि	विधेय

स्तुत किया

ने के लिए

चिह्नों का

भंगों के आगमिक रूप	भंगों के सांकेतिक रूप	ठोस उदाहरण
१. स्यात् अस्ति	अ¹⊃ उ वि है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है।
२. स्यात् नास्ति	अ²⊃ अ वि नहीं है.	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते है तो आत्मा नित्य नहीं है।
३. स्यात् अस्ति नास्ति च	अ¹⊃ उ वि है. अ²⊃ उ वि नहीं है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से चिार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
४. स्यात् अवक्तव्य	(अ¹. अ²)⊃ उ अवक्तव्य है.	यदि द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षा से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। (क्योंकि दो भिन्न -भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग-अलग कथन हो सकते हैं किन्तु एक कथन नहीं हो सकता है।)

५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च	$अ^{१} \supset$ उ वि है. $(अ^{१}. अ^{२})^{य}$ उ अवक्तव्य है. अथवा $अ^{१} \supset$ उ वि है. $(अ\infty)^{य} \supset$ उ अवक्तव्य है।	यदि द्रव्य की अपेक्षा [illegible] विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा का द्रव्य, पर्याय दोनों [illegible] अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।
६. स्याद् नास्ति च अवक्तव्य च	$अ^{१} \supset$ उ वि नहीं है. $(अ^{१}. अ^{२})^{य} \supset$ उ अवक्तव्य है. अथवा $अ^{२} \supset$ उ वि नहीं है. $(अ\infty)^{य}$ उ $\supset$ अवक्तव्य है।	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है किन्तु यदि अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते है तो आत्मा अवक्तव्य है।
७. स्याद् अस्ति च, नास्ति च अवक्तव्य च	$अ^{१} \supset$ उ वि है. $अ^{२} \supset$ उ वि नहीं है $(अ^{\infty})^{य} \supset$ उ अवक्तव्य है अथवा $अ^{१} \supset$ उ वि है. $अ^{२} \supset$ उ वि नहीं हैं $(अ^{१}. अ^{२})$ य उ अवक्तव्य है.	यदि द्रव्य दृष्टि से विचार करते है तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं किन्तु यदि अपनी अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है।

सप्तभंगी के प्रस्तुत सांकेतिक–रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का

उल्लेख किया है, किन्तु जैन–विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव– ऐसी चार अपेक्षाएं मानी हैं, उसमें भी भाव–अपेक्षा व्यापक है, उसमें वस्तु की अवस्थाओं (पर्यायों) एवं गुणों–दोनों पर विचार किया जाता है, किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की संभावनाओं पर विचार करें, तो ये अपेक्षाएं भी अनन्त होंगी, क्योंकि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है, किन्तु इस छोटी–सी भूमिका में यह सम्भव नहीं है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग 'स्यात् अस्ति' है। यह स्वचतुष्टय को अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक–धर्म या धर्मों का विधान करता है, जैसे– अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा से इन्दौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर–ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्त्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार, वस्तु के स्व–द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से उसके भावात्मक–गुणों का विधान करना– यह प्रथम 'अस्ति' नामक भंग का कार्य है। दूसरा स्यात्, 'नास्ति' नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक–धर्म या धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर– चतुष्टय का अभाव है, जैसे– यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर में बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म–ऋतु का बना हुआ नहीं है, कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं, यह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि यह घड़ा ही है, वहाँ दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा, घट इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है– 'सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च', अर्थात्, सभी वस्तुओं की सत्ता स्वरूप से है, पर स्वरूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण–धर्मों की सत्ता भी मान ली जायेगी, तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक–भेद ही समाप्त हो जायेगा और वस्तु का स्व–स्वरूप ही नहीं रह जायेगा, अतः वस्तु में पर–चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतया, इस द्वितीय भंग को 'स्यात् नास्ति घटः', अर्थात्, किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है– इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु इसके

प्रस्तुतिकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्मा–विरोधी कथन करने वाला *सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शंकर प्रभृति* विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। 'स्यात् नास्ति घटः' में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर 'अस्ति' और 'नास्ति' पर बल दिया जाता है, तो आत्म–विरोध का आभास होने लगता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी आचार्य की दृष्टि में द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति–रूप माने गये गुण–धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग प्रथम भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं। यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जायेगा, तो निश्चित ही यह सिद्धान्त संशयवाद या आत्म–विरोध के दोषों से ग्रसित हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में 'स्यादस्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है और द्वितीय भंग 'स्याद् नास्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है– ऐसा करेंगे, तो आभासी रूप से ऐसा लगेगा कि दोनों कथन विरोधी हैं, क्योंकि इन कथनों के भाषायी–स्वरूप से ऐसा आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है, जबकि जैन–आचार्यों की दृष्टि में इन कथनों का बल उनमें प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द में ही है। वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनों भंगों में घट के सम्बन्ध में जिनका विधान या निषेध किया गया है, वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं, न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः, दोनों भंगों के 'अपेक्षाश्रित धर्म' एक नहीं हैं, भिन्न–भिन्न हैं। दूसरे भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है, वे दूसरे अर्थात् पर–चतुष्टय के हैं, अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्मविरोध

ा नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि 'नास्ति' पद को विधेय–स्थानीय माना जाता है, तो पुनः यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्तिरूप है, वह नास्तिरूप कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाये कि परद्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, किन्तु परद्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं?

यद्यपि यहाँ पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं, अपितु घट में परद्रव्यादि का भी निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट, पट नहीं है, या घट में पट आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदली है। यदि प्रथम भंग से यह कहा जाये कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जाये कि घड़ा पीतल का नहीं है, तो दोनों में अपेक्षा एक ही है, अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से हैं। अब दूसरा उदाहरण लें– किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है, यहाँ दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहाँ प्रथम भंग में द्रव्य की अपेक्षा से घड़े को नित्य कहा गया और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न–भिन्न हैं। दूसरे, यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है, या पट की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रान्तिजनक अवष्य है, क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की सत्ता का निशेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व–भिन्न परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है, किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है, या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रान्त प्रयोग हैं? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः, परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है– यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा।

विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप से द्वितीय एवं तृतीय भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक–स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक–तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में उसे पुनर्गठित करेंगे, तो जैन–न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी। क्योंकि द्वितीय एवं

सांकेतिक रूप	उदाहरण
(१) प्रथम भंग - $अ^{1} \supset$ उ वि है द्वितीय भंग-$अ^{2} \supset$ उ नहीं है	प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है। अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसे : **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है। **पर्यायदृष्टि** से घड़ा नित्य नहीं है।
(२) प्रथम भंग - $अ^{1} \supset$ उ वि है द्वितीय भंग-$अ^{2} \supset$ ऊ ~वि है	(२) प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर देना है। जैसे- **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है **पर्यायदृष्टि** से घड़ा अनित्य है।
(३) प्रथम भंग - $अ^{1} \supset$ उ वि है द्वितीय भंग-$अ^{2} \supset$ उ ~वि नहीं है	(३) प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु में निषेध कर देना । जैसे - **रंग की दृष्टि** से यह कमीज नीली है। **रंग की दृष्टि** से यह कमीज पीली नहीं है। अथवा अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतन है। अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नहीं है।

	अथवा उपादान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का है। उपादान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का नहीं है।
(४) प्रथम भंग - अ$^{१}\supset$ उ है द्वितीय भंग-अ$^{२}\supset$ उ नहीं है	(४) जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनों के सम्बन्ध में हो तब देश-काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना। जैसे- २७ नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर हूँ। २० नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर **नहीं था।**

तृतीय भंगों की कथन–विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं, अतः यहाँ द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि में द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं –

द्वितीय भंग के उपर्युक्त चारों रूपों में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहां प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहाँ दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग–अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है, जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा–भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे। इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों के युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतिकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जबकि वस्तु में धर्म–विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जब कि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है।

द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेय का व्याघातक पद) होता है, क्रियापद विधानात्मक होता है। तृतीय रूप से अपेक्षा वही रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है तथा अन्तिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है, अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया, यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहते हुए सत्–असत्, नित्य–अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात् एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है, अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक–दृष्टि से विचार करते हैं, तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डॉ. पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है–

(1) पहला, वेदकालीन–निषेधात्मक–दृष्टिकोण, जिसमें विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण–तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है।

(2) दूसरा, औपनिषदिक–विधानात्मक–दृष्टिकोण, जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है, जैसे– 'तदेजति तन्नेजति' 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है।

(3) तीसरा दृष्टिकोण, जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में भी मिलता है, यथा– 'यतो वाचो निवर्तन्ते', यद्वाचानभ्युदितं, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्याः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की धारणा में भी बहुत–कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(4) चौथा दृष्टिकोण जैन–न्याय में सापेक्षिक–अवक्तव्यता या सापेक्षिक–अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं–

(1) सत् व असत्–दोनों का निषेध करना।

(2) सत्, असत् और सदसत्–तीनों का निषेध करना।

(3) सत्–असत्, सत–असत् (उभय) और न सत्, न असत् (अनुभय)–चारों का निषेध करना ।

(4) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना, अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभव में तो आ सकता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता ।

(5) सत् और असत्–दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके युगपत्कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

(6) वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसीलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक शब्द नहीं हैं, अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन–विचार–परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौनसे अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया, जैन– परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत्–दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है, इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन–आगमों को देखें, तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता। आचारांगसूत्र (1–5–171) में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है, वह विचारणीय है। वहाँ कहा गया है कि "आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है, अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं हैं। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है, क्योंकि उसे कोई

उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।'' इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः, वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता और शब्दसंख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्य भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये अवक्तव्य भावों का अनन्तवाँ भाग ही कथन *किया जाने योग्य है (गोम्मटसार, जीव. 334)। अतः, यह मान लेना उचित* नहीं है कि जैन–परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार, जैनदर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें, छठवें अर्थ मान्य रहे हैं, फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष– अवक्तव्यता और निरपेक्ष–अवक्तव्यता में जैनदृष्टि सापेक्ष–अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है, किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे, तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान–प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा, अतः जैन–दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय, क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी–दृष्टिकोण और स्याद्वाद–सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार, पूर्व निर्दिष्ट पाँच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है। प्रथम तो, 'है' और 'नहीं है'– ऐसे विधि–प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे, निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे, अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं, किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है, इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन प्रारूप हैं–

१. $(अ^1 . अ^2)^{य} \supset$ उ अवक्तव्य है,

२. $\sim अ \supset$ उ अवक्तव्य है,

३. $(अ \infty)^{य} \supset$ उ अवक्तव्य है।

सप्तभंगी के शेष चारों भंग सांयोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्व तो अवश्य है, किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं है, ये अपने संयोगी मूलभंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं, अतः इन पर यहाँ विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक–तर्कशास्त्र

वर्त्तमान युग में पाश्चात्य–तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्युसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार, तार्किक–निर्णयों में केवल सत्य, असत्य–ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य– ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी संदर्भ में डॉ. एस.एस बारलिंगे ने जैन–न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास जयपुर की एक गोष्ठी में किया था। जहाँ तक जैनन्याय या स्याद्वाद के सिद्धांत का प्रश्न है, उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है, क्योंकि जैन–न्याय में प्रमाण, सुनय और दुर्नय–ऐसे तीन क्षेत्र माने गये हैं, इसमें प्रमाण सुनिश्चित सत्य, सुनय सम्भावित सत्य और दुर्नय असत्यता के परिचायक हैं। पुनः, जैन–दार्शनिकों ने प्रमाणवाक्य और नयवाक्य–ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाणवाक्य को सकलादेश (सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य) और नयवाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आंशिक सत्य) कहा है। नयवाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य, अतः सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। पुनः, वस्तुतत्त्व की अनन्त– धर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उस कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार, जैनदर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता तथा प्रमाण,

नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद–सिद्धांत त्रिमूल्यात्मक–तर्कशास्त्र या बहुमूल्यात्मक–तर्कशास्त्र का समर्थन माना जा सकता है, किन्तु जहां तक सप्तभंगी का प्रश्न है, उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य मूल्य का सूचक है, यद्यपि जैन–विचारकों ने प्रमाण–सप्तभंगी और नय–सप्तभंगी के रूप में सप्तभंगी के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाण–सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय–सप्तभंगी के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः, सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है। यह तो अनेकांत के सैद्धान्तिक–पक्ष की चर्चा हुई, अब हम उसके व्यावहारिक– पक्ष की चर्चा करेंगे।

(II)

अनेकान्तवाद का व्यावहारिक–पक्ष

अनेकान्तवाद का व्यावहारिक–जीवन में क्या मूल्य और महत्व है, इसका यदि ऐतिहासिक–दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें सर्वप्रथम उसका उपयोग विवाद–पराङ्मुखता के साथ–साथ परपक्ष की अनावश्यक आलोचना व स्वपक्ष की अतिरेक प्रशंसा से बचना है। इस प्रकार का निर्देश हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग (1/1/2/23) में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि जो अपने पक्ष की प्रशंसा और पर–पक्ष की निन्दा में रत हैं, वे दूसरों के प्रति द्वेष–वृत्ति का विकास करते हैं, परिणामस्वरूप संसार में भ्रमण करते हैं, साथ ही, महावीर चाहते थे कि अनेकान्त–शैली के माध्यम से कथ्य का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो और इस तरह का प्रयास उन्होंने भगवतीसूत्र में अनैकान्तिक–उत्तरों के माध्यम से किया है, जैसे– जब उनसे पूछा गया कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा कि पापियों का सोना व धार्मिकों का जागना अच्छा है। जैन–दार्शनिकों में इस अनेकान्तदृष्टि का व्यावहारिक–प्रयोग सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने किया। उन्होंने उद्घोष किया कि संसार के एकमात्र गुरु उस अनेकान्तवाद

को नमस्कार है, जिसके बिना संसार का व्यवहार ही असम्भव है। परमतत्त्व या परमार्थ की बात बहुत की जा सकती है, किन्तु वह मनुष्य, जो इस संसार में रहता है, उसके लिए परमार्थ सत्य की बात करना उतनी सार्थक नहीं है, जितनी व्यवहार– जगत् की और व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अनेकांत–दृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार की एक ही स्त्री को कोई पत्नी कहता है, कोई पुत्रवधू कहता है, कोई मां कहता है, तो कोई दादी, कोई बहन कहता है, तो कोई चाची, नानी आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न पारिवारिक–संबंधों की इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जो किसी एक तात्त्विक–एकान्तवादी–अवधारणा के आधार पर नहीं सुलझाए जा सकते हैं, उदाहरण के रूप में, यदि हम एकान्तरूप से व्यक्ति को परिवर्तनशील मानते हैं, तो आधुनिक शिक्षा–प्रणाली में परीक्षा, प्रमाणपत्र व उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी आदि में एकरूपता नहीं होगी। यदि व्यक्ति परिवर्तनशील है, क्षण–क्षण बदलता ही रहता है, तो अध्ययन करने वाला छात्र भिन्न होगा और जिसे प्रमाण–पत्र मिलेगा, वह परीक्षा देने वाले से भिन्न होगा और उन प्रमाण–पत्रों के आधार पर जिसे नौकरी मिलेगी, वह उनसे पृथक् होगा। इस प्रकार, व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियां होंगी, यदि इसके विरुद्ध हम यह मानें कि व्यक्तित्व में परिवर्तन ही नहीं होता, तो उसकें प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक होगी। इस प्रकार, अनेकान्त–दृष्टि का मूल आधार व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है। प्राचीन आगमों में इसका उपयोग विवादों और आग्रहों से बचने तथा कथनों को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। सर्वप्रथम, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस अनेकान्त–दृष्टि का प्रयोग दार्शनिक–विरोधों के समन्वय की दिशा में किया। उन्होंने एक ओर परस्पर विरोधी एकान्तिक–मान्यताओं में दोषों की उद्भावना करके बताया कि कोई भी एकान्तिक–मान्यता न तो व्यावहारिक है, न ही सत्ता का सम्यक् एवं सत्य स्वरूप ही प्रस्तुत करती है, किन्तु उनकी विशेषता यह रही कि वे अन्यदर्शनों में केवल दोषों की उद्भावना तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उन परस्पर विरोधी धारणाओं में निहित सत्यता का

भी दर्शन किया और सत्य के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें समन्वित करने का भी प्रयत्न किया। जहाँ उनके पूर्व तक दूसरे दर्शनों को मिथ्या कहकर उनका मखौल उड़ाया जाता था, वहीं उन्होंने विभिन्न नयों के आधार पर उनकी सत्यता को स्पष्ट किया। मात्र यही नहीं, जिन–मत को भी मिथ्या–मत– समूह कहकर उन सभी के प्रति समादर का भाव प्रकट किया। सिद्धसेन के पश्चात् यद्यपि समन्तभद्र ने भी ऐसा ही एक प्रयास किया और विभिन्न दर्शनों में निहित सापेक्षिक–सत्यों को विभिन्न नयों के आधार पर व्याख्यायित किया, फिर भी जिन–मत को मिथ्या–मत–समूह कहने का जो साहस सिद्धसेन के चिन्तन में था, वह समंतभद्र के चिंतन में नहीं आ पाया। सिद्धसेन और समंतभद्र के पश्चात् जिस दार्शनिक ने अनेकांत–दृष्टि की समन्वयशीलता का सर्वाधिक उपयोग किया, वे आचार्य हरिभद्र हैं, हरिभद्र से पूर्व दिगम्बर–परम्परा में कुन्दकुन्द ने भी एक प्रयत्न किया था। उन्होंने नियमसार में व्यक्ति की बहुआयामिता को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि व्यक्ति को स्वमत में व परमत में विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, किन्तु अनेकान्त–दृष्टि से विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक–समन्वय का जो प्रयत्न हरिभद्र ने, विशेष रूप से अपने ग्रंथ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में किया, वह निश्चय ही विरल है। हरिभद्र ने अनेक प्रसंगों में अपनी वैचारिक–उदारता व समन्वयशीलता का परिचय दिया है, जिसकी चर्चा हमने अपनी लघु पुस्तिका, 'आचार्य हरिभद्र व उनका अवदान' में की है। विस्तारभय से हम उन सब में यहाँ जाना नहीं चाहते। अनेकान्त की इस उदार शैली का प्रभाव परवर्ती जैन–आचार्यों पर भी रहा और यही कारण था कि दूसरे दर्शनों की समालोचना करते हुए भी वे आग्रही नहीं बने और उन्होंने एक सीमा तक उनमें निहित सत्यों को देखने का प्रयत्न किया।

दार्शनिक–विचारों के समन्वय का आधार : अनेकांतवाद

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक–संघर्ष और दार्शनिक–विवाद अपने चरम सीमा पर थे। जैन–आगमों के अनुसार, उस समय 363 और बौद्ध–आगमों के अनुसार 62 दार्शनिक–मत प्रचलित थे।

वैचारिक–आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठकर सही दिशा–निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद–पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि 'मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे, कलह एवं अशान्ति का कारण होता है। अतः, निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े (सुत्तनिपात 51–21)। बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभी परविरोधी दार्शनिक–दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक–मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता (सुत्तनिपात– 51–3)। बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक–वादविवाद निर्वाण–मार्ग के साधक के कार्य नहीं हैं (सुत्तनिपात–46 –8–9)। अनासक्त, मुक्त पुरुष के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार, भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने कहा कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी–दृष्टि उचित नहीं है। जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार–चक्र में घूमते रहते हैं (सूत्रकृतांग 1/1/2–23)। इस प्रकार, भगवान् महावीर व बुद्ध–दोनों ही उस युग की आग्रह–वृत्ति एवं मतान्धता से जनमानस को मुक्त करना चाहते थे, फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अन्तर था। जहाँ बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक–दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक–एकान्तवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में अनित्यवाद–क्षणिकवाद, द्वैतवाद–अद्वैतवाद, भेदभाव–अभेदभाव आदि सभी वस्तु–स्वरूप के आंशिक–पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है, किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है, तो वह आंशिक–सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उनका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षा–भेद से इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य

तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही– दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हम हमारी दृष्टि को या अपने को आग्रह से ऊपर उठाकर देखें, तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौनसा तत्त्व बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था– हे गौतम! तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है, यही तेरे केवलज्ञान (सत्य दर्शन) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया जा सकता। आग्रह–बुद्धि या दृष्टिराग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक–दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मोपनिषद् में लिखते हैं–

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी।।61।।
तेन स्याद्वाद्वमालंब्य सर्वदर्शन तुल्यताम् ।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रंवित्।।70।।
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्वालिशवल्गनम् ।।71।।
माध्यस्थ सहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ।।73।।

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य–दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में, माध्यस्थ–भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। माध्यस्थ–भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है, क्योंकि जहाँ आग्रह–बुद्धि होती है, वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का

दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः, शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, हेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक–मत–मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिये गये चित्र हैं और आपेक्षिक–रूप से सत्य हैं। द्रव्य–दृष्टि और पर्याय–दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है। अतः, एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है। परमयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं–

षट् दरसण जिन अंग भणाजे, न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे ।।1।।
जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे ।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे ।।2।।
भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनपर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे।।3।।
लोकायतिक सुख कूख जिनवर की, अंश विचार जो कीजे।
तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे।।4।।
जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंग रे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे।।5।।

अनेकांत धार्मिक–सहिष्णुता के क्षेत्र में :

सभी धर्म–साधना–पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जहाँ जैन–धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता होना और बौद्ध–दर्शन की साधना का लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है, वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है, लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिक– राग, वैचारिक–आसक्ति, वैचारिक–तृष्णा अथवा वैचारिक–अहं के ही रूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं, धार्मिक–साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? जिन साधना–पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया, उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक–हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर, साधना के वैयक्तिक–पहलू की दृष्टि से मताग्रह

वैचारिक–आसक्ति या राग का ही रूप है, तो दूसरी ओर, साधना के सामाजिक–पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक–हिंसा है। वैचारिक–आसक्ति और वैचारिक–हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक–क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः, धर्म का आविर्भाव मानव–जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य–मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक–मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार– क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में धर्म नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनैकांतिक–शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक–धर्म या धर्मों का साध्य एक है, जबकि साधनात्मक–धर्म अनेक हैं। साध्य–रूप में धर्मों की एकता और साधन– रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है– समत्वलाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य–शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग–द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण, लेकिन राग–द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यहीं विचार–भेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचार–भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिंची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक–विरोध प्रतीत अवश्य होता है, किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं, क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक–दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है, किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है, वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एकता में साधनरूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः, यदि धर्मों का साध्य एक है, तो उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त, धर्मों की साध्यपरक

मूलभूत एकता और साधनपरक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक– परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधनों के बाह्य–नियमों का प्रतिपादन किया। देशकालगत परिस्थितियों और साधकों की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म–साधना के बाह्य–रूपों में विभिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी, किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना–पद्धति को ही एकमात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप, विभिन्न–धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक–वैमनस्य प्रारम्भ हुआ। मुनि श्रीनेमिचन्द्र ने धर्म–सम्प्रदायों के उद्‌भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं– 'मनुष्य–स्वभाव बड़ा विचित्र है, उसके अहं को जरा–सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक– अहं धर्म–सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है, लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक–भिन्नता और देशकालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आयी हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार, सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं –

(1) ईर्ष्या के कारण, (2) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण, (3) किसी वैचारिक–मतभेद मताग्रहण के कारण, (4) किसी आचार–संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण, (5) किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय द्वारा अपमान या खींचतान होने के कारण, (6) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से और (7) किसी साम्प्रदायिक–परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपर्युक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक–असहिष्णुता और साम्प्रदायिक–विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व–इतिहास का अध्येता इसे भलीभांति जानता है कि

धार्मिक–असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त–प्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति–प्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक–युग में धार्मिक–अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी हैं। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य–भिन्नता परिलक्षित होती है, किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो, तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकांत–विचारदृष्टि विभिन्न धर्म–सम्प्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है, क्योंकि वैयक्तिक रुचि–भेद एवं क्षमता–भेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक नहीं, अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म–सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है, लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है– धार्मिक–सहिष्णुता और सर्वधर्म–समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक–सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक–सहिष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्त्ता–समुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्यायदर्शन के ईश्वर–कर्त्तृत्ववाद और वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रन्थ लोकतत्त्व–संग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं –

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः।।

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हो, उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार, आचार्य हेमचन्द्र ने शिव–प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव समभाव का परिचय देते हुए कहा था –

भवबीजांकुरजनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ, जिनो वा नमस्तस्मै।।

संसार–परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

राजनीतिक–क्षेत्र में अनेकांतवाद के सिद्धांत का उपयोग

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक, अपितु राजनीतिक–विवाद भी हल करता है। आज का राजनीतिक–जगत् भी वैचारिक–संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनीतिक–विचारधाराएं तथा राजतन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायक–तन्त्र आदि अनेकानेक शासन–प्रणालियां वर्त्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एक–दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमें का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव–क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनीतिक–संघर्ष मात्र आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का भी संघर्ष है। आज अमेरिका, चीन और रूस अपनी वैचारिक–प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक–दूसरे को नाम–शेष करने की उनकी यह महत्त्वाकांक्षा कहीं मानव–जाति को ही नाम–शेष न कर दे।

आज के राजनीतिक–जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक– फलित वैचारिक–सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानव– जाति ने राजनीतिक–जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है, उसकी सार्थकता स्याद्वाद–दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना आज के राजनीतिक–जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार–दृष्टि और सहिष्णु–भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकला है। राजनीतिक–क्षेत्र में संसदीय–प्रजातन्त्र वस्तुतः राजनीतिक–स्याद्वाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने

विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक–क्षेत्र में जहाँ भारत स्याद्वाद का सर्जक है, वहीं वह राजनीतिक–क्षेत्र में संसदीय–प्रजातन्त्र का समर्थक भी है, अतः आज स्याद्वाद–सिद्धान्त का व्यावहारिक–क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय–राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार, हमें यह भी समझना है कि राज्य–व्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनीतिक–विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक–विवादों की नहीं, अपितु जनहित के संरक्षण एवं मानव की पाशविक–वृत्तियों के नियन्त्रण की है।

मनोविज्ञान और अनेकान्तवाद

वस्तुतः, अनेकान्तवाद न केवल एक दार्शनिक–पद्धति है, अपितु वह मानवीय–व्यक्तित्व की बहुआयामिता को भी स्पष्ट करती है। जिस प्रकार वस्तुतत्त्व विभिन्न गुणधर्मों से युक्त होता है, उसी प्रकार से मानव–व्यक्तित्व भी विविध विशेषताओं या विलक्षणताओं का पुंज है, उसके भी विविध आयाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के भी विविध आयाम या पक्ष होते हैं, मात्र यही नहीं, उसमें परस्पर विरोधी गुण भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतया, वासना व विवेक परस्पर विरोधी माने जाते हैं, किन्तु मानव–व्यक्तित्व में ये दोनों विरोधी गुण एक साथ उपस्थित हैं। मनुष्य में एक ओर अनेकानेक वासनाएं, इच्छाएं और आकांक्षाएं रही हुई होती हैं, तो दूसरी ओर उसमें विवेक का तत्त्व भी होता है, जो उसकी वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है। यदि मानव– व्यक्तित्व को समझना हैं, तो हमें उसके वासनात्मक–पहलू और आदर्शात्मक–पहलू (विवेक)–दोनों को ही देखना होगा। मनुष्य में न केवल वासना और विवेक के परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं, अपितु उसमें अनेक दूसरे भी परस्पर विरोधी गुण देखे जाते हैं, उदाहरणार्थ– विद्वत्ता या मूर्खता को लें। प्रत्येक व्यक्ति में विद्वत्ता में मूर्खता और मूर्खता में विद्वत्ता समाहित होती है। कोई भी व्यक्ति समग्रतः विद्वान् या समग्रतः मूर्ख नहीं होता है। मूर्ख में भी कहीं–न–कहीं विद्वत्ता और विद्वान् में भी कहीं–न–कहीं मूर्खता छिपी

रहती है। किसी को विद्वान् या मूर्ख मानना– यह सापेक्षिक–कथन ही हो सकता है। मानव–व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मनोविश्लेषणवादियों ने वासनात्मक–अहम् ओर आदर्शात्मक– अहम् की जो अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं, वे यही सूचित करती हैं कि मानव–व्यक्तित्व बहुआयामी है। उसमें ऐसे अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म छिपे हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति में जहाँ एक ओर कोमलता या करुणा का भाव रहा हुआ है, वहीं दूसरी ओर उसमें आक्रोश और अहंकार भी विद्यमान है। एक ही मनुष्य के अन्दर इनफिरियारिटी–काम्पलेक्स और सुपीरियारिटी–काम्पलेक्स–दोनों ही देखे जाते हैं। कभी–कभी तो हीनत्व की भावना ही उच्चत्व की भावना में अनुस्यूत देखी जाती है। भय और साहस परस्पर विरोधी गुणधर्म हैं, किन्तु कभी–कभी भय की अवस्था में ही व्यक्ति अकल्पनीय साहस का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार, मानव–व्यक्तित्व में वासना और विवेक, ज्ञान और अज्ञान, राग और द्वेष, कारुणिकता और आक्रोश, हीनत्व और उच्चत्व की ग्रन्थियां एक साथ देखी जाती हैं। इससे यह फलित होता है कि मानव–व्यक्तित्व भी बहुआयामी है और उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकान्त की दृष्टि आवश्यक है।

प्रबन्धशास्त्र और अनेकांतवाद

वर्त्तमान युग में प्रबन्धशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण विधा है, किन्तु यह विधा भी अनेकान्त–दृष्टि पर ही आधारित है। किस व्यक्ति से किस प्रकार कार्य लिया जाये, ताकि उसकी सम्पूर्ण योग्यता का लाभ उठाया जा सके, यह प्रबन्धशास्त्र की विशिष्ट समस्या है। प्रबन्धशास्त्र, चाहे वह वैयक्तिक हो या संस्थागत, उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष तो व्यक्ति ही होता है और प्रबन्ध और प्रशासन की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि हम उस व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके प्रेरक–तत्त्वों को किस प्रकार समझाएं। एक व्यक्ति के लिए मृदु आत्मीय–व्यवहार एक अच्छा प्रेरक हो सकता है, तो दूसरे के लिए कठोर अनुशासन की आवश्यकता हो सकती है। एक व्यक्ति के लिए आर्थिक–उपलब्धियाँ ही प्रेरक का कार्य करती हैं, तो दूसरे के लिए पद और प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण प्रेरक–तत्त्व हो सकते हैं।-प्रबन्धव्यवस्था

में हमें व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। एक प्रबन्धक तभी सफल हो सकता है, जब वह मानव–प्रकृति की इस बहुआयामिता को समझे और व्यक्ति–विशेष के सन्दर्भ में यह जाने की उसके जीवन की प्राथमिकताएं क्या हैं? प्रबन्ध और प्रशासन के क्षेत्र में एक ही चाबुक से सभी को नहीं हाँका जा सकता। जिस प्रबन्धक में प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति की जितनी अच्छी समझ होगी, वही उतना सफल प्रबन्धक होगा, इसके लिए अनेकांत–दृष्टि या सापेक्ष–दृष्टि को अपनाना आवश्यक है।

प्रबन्धशास्त्र के क्षेत्र में वर्त्तमान में समग्र गुणवत्ता–प्रबन्धन की अवधारणा प्रमुख बनती जा रही है, किन्तु व्यक्ति अथवा संस्था की समग्र गुणवत्ता का आकलन निरपेक्ष नहीं है। गुणवत्ता के अन्तर्गत अनेक गुणों की पारस्परिक–समन्वयात्मकता आवश्यक होती है। विभिन्न गुणों का पारस्परिक–सामंजस्य में रहते हुए जो एक समग्र रूप बनता है, वह ही गुणवत्ता का आधार है। अनेक गुणों के पारस्परिक–सामंजस्य में ही गुणवत्ता निहित होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण एक–दूसरे के साथ समन्वय करते हुए रहते हैं। विभिन्न गुणों की यही सामंजस्यतापूर्ण स्थिति ही गुणवत्ता का आधार है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण ठीक उसी प्रकार सामंजस्यपूर्वक रहते हैं, जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव सामंजस्यपूर्ण स्थिति में रहते हैं। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों का सामंजस्य टूट जाना शारीरिक–विकृति या विकलांगता का प्रतीक है, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के गुणों में पारस्परिक–सामंजस्य का अभाव व्यक्तित्व के विखण्डन का आधार बनता है। पारस्परिक–सामंजस्य में ही समग्र गुणवत्ता का विकास होता है। अनेकान्त–दृष्टि व्यक्तित्व के उन विभिन्न गुणों या पक्षों और उनके पारस्परिक–सामंजस्य को समझने का आधार है। व्यक्ति में वासनात्मक–पक्ष अर्थात् उसकी जैविक–आवश्यकताएं और विवेकात्मक–पक्ष अर्थात् वासनाओं के संयमन की शक्ति–दोनों की अपूर्ण समझ किसी प्रबन्धक के प्रबन्धन की असफलता का कारण ही होगी। समग्र गुणवत्ता विभिन्न गुणों अथवा पक्षों और उनके पारस्परिक–सामंजस्य की समझ पर ही आधारित होती है और यह समझ ही

प्रबन्धशास्त्र का प्राण है। दूसरे शब्दों में कहें, तो अनेकान्त–दृष्टि के आधार पर ही सम्पूर्ण प्रबन्धशास्त्र अवस्थित है। विविध पक्षों के अस्तित्व की स्वीकृति के साथ उनके पारस्परिक–सामंजस्य की संभावना को देख पाना प्रबन्धशास्त्र की सर्वोत्कृष्टता का आधार है।

समाजशास्त्र और अनेकान्तवाद

समाजशास्त्र के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण समस्या व्यक्ति और समाज के पारस्परिक–संबंधों को सम्यक् प्रकार से समझ पाना या समझा पाना ही है। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति (सभ्य व्यक्ति) का अस्तित्व संभव नहीं है। जहाँ एक ओर व्यक्तियों के आधार पर ही समाज खड़ा होता है, वहीं दूसरी ओर, व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाजरूपी कार्यशाला में ही सम्पन्न होता है। जो विचारधाराएं व्यक्ति और समाज को एक–दूसरे से निरपेक्ष मानकर चलती हैं, वे न तो सही रूप में व्यक्ति को समझ पाती हैं और न ही समाज को। व्यक्ति और समाज–दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है। इस सापेक्षता को समझे बिना न तो व्यक्ति को ही समझा जा सकता है और न समाज को। समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेकान्त–दृष्टि व्यक्ति और समाज के इस सापेक्षिक–संबंध को देखने का प्रयास करती है। व्यक्ति और समाज एक–दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं– यह समझ ही समाजशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का मूलभूत आधार है। सामाजिक–सुधार के जो भी कार्यक्रम हैं, उनका आवश्यक अंग व्यक्ति–सुधारना भी है। न तो सामाजिक–सुधार के बिना व्यक्ति सुधार संभव है, न व्यक्ति–सुधार के बिना सामाजिक–सुधार। वस्तुतः, व्यक्ति और समाज में आंगिकता का संबंध है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि उन्हें एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज की इस सापेक्षिकता को समझना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है और यह समझ अनेकान्त–दृष्टि के विकास से ही संभव है, क्योंकि वह एकत्व में अनेकत्व अथवा एकता में विभिन्नता तथा विभिन्नता में एकता का दर्शन करती है, उसके लिए एकत्व और पृथक्त्व–दोनों का ही समान महत्व है। वह यह मानकर

चलती है कि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं और एक के अभाव में दूसरे की कोई सत्ता नहीं है।

सामाजिक–नैतिकता से जुड़ा एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है– वैयक्तिक–कल्याण और सामाजिक–कल्याण में किसे प्रमुख माना जाय? इस समस्या के समाधान के लिए भी हमें अनेकान्त–दृष्टि को ही आधार बनाकर चलना होगा। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं, व्यक्ति के हित में समाज का हित है और समाज के हित में व्यक्ति का हित समाया है, तो इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। जो लोग वैयक्तिक–हितों और सामाजिक हितों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, वे वस्तुतः व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों से अनभिज्ञ हैं। वैयक्तिक–कल्याण और सामाजिक–कल्याण परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक–दूसरे से पृथक् नहीं हैं। हमें यह मानना होगा कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है और व्यक्ति के हित में समाज का हित। अतः, एकान्त–स्वार्थपरतावाद और एकान्त–परोपकारवाद–दोनों ही संगत सिद्धान्त नहीं हो सकते। न तो वैयक्तिक–हितों की उपेक्षा की जा सकती है, न ही सामाजिक–हितों की। अनेकान्त–दृष्टि हमें यही बताती है कि वैयक्तिक–कल्याण में सामाजिक–कल्याण और सामाजिक–कल्याण में वैयक्तिक–कल्याण अनुस्यूत है। दूसरे शब्दों में, वे परस्पर सापेक्ष हैं।

पारिवारिक–जीवन में स्याद्वाद–दृष्टि का उपयोग

कौटुम्बिक–क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सामान्यतया, पारिवारिक–जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं– पिता–पुत्र तथा सास–बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव–प्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है, तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास–बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन

जिये, जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ–पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जिये, जैसा वह अपने माता–पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत, श्वसुर–पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः, इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकान्त–पद्धति से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें, तो स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक–व्यवहार असम्भव है और इसी आधार पर अनेकान्तवाद जगद्गुरु होने का दावा करता है।

अर्थशास्त्र और अनेकान्त

सामान्यतया, अर्थशास्त्र का उद्देश्य जन–सामान्य का आर्थिक–कल्याण होता है, किन्तु आर्थिक–प्रगति के पीछे मूलतः वैयक्तिक–हितों की प्रेरणा ही कार्य करती है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी–दृष्टियों के केन्द्र–बिन्दु ही भिन्न–भिन्न बन गए। साम्यवादी–शक्तियों का आर्थिक–क्षेत्र में पिछड़ने का एकमात्र कारण यह रहा कि उन्होंने आर्थिक–प्रगति के लिए वैयक्तिक–प्रेरणा की उपेक्षा की, किन्तु दूसरी ओर यह भी हुआ कि वैयक्तिक–आर्थिक–प्रेरणा और वैयक्तिक–अर्थलाभ को प्रमुखता देने के कारण सामाजिक–कल्याण की आर्थिक–दृष्टि असफल हो गयी और उपभोक्तावाद इतना प्रबल हो

गया कि उसने सामाजिक–आर्थिक–कल्याण की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। परिणामस्वरूप, अमीर और गरीब के बीच खाईं अधिक गहरी होती गयी।

इसी प्रकार, अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आर्थिक–प्रगति का आधार व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाना मान लिया गया, किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वार्थपरता और शोषण की दृष्टि ही प्रमुख हो गयी। आवश्यकताओं की सृष्टि और इच्छाओं की पूर्त्ति को ही आर्थिक–प्रगति का प्रेरक–तत्त्व मानकर हमने आर्थिक–साधन और सुविधाओं में वृद्धि की, किन्तु उसके परिणामस्वरूप आज मानव–जाति उपभोक्तावादी–संस्कृति से ग्रसित हो गयी है और इच्छाओं और आकांक्षाओं की दृष्टि के साथ चाहे भौतिक सुख–सुविधाओं के साधन बढ़े भी हों, किन्तु उसने मनुष्य की अन्तरात्मा को विपन्न बना दिया। आकांक्षाओं की पूर्त्ति की दौड़ में मानव अपनी आन्तरिक–शान्ति खो बैठा, फलतः, आज हमारा आर्थिक–क्षेत्र विफल होता दिखाई दे रहा है। वस्तुतः, इस सबके पीछे आर्थिक–प्रगति को ही एकमात्र लक्ष्य बना लेने की एकान्तिक–जीवनदृष्टि है।

कोई भी तंत्र, चाहें वह अर्थतंत्र हो, राजतंत्र या धर्मतंत्र, बिना अनेकान्त–दृष्टि को स्वीकार किये सफल नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबका मूल केन्द्र तो मनुष्य ही है। जब तक वे मानव–व्यक्तित्व की बहुआयामिता और उसमें निहित सामान्यताओं को नहीं स्वीकार करेंगे, तब तक इन क्षेत्रों में हमारी सफलताएं भी अन्ततः विफलताओं में ही बदलती रहेंगी। वस्तुतः, अनेकान्त–दृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है, जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है। समग्रता की दिशा में अंगों की उपेक्षा नहीं, अपितु उनका पारस्परिक–सामंजस्य ही महत्वपूर्ण होता है और अनेकान्तवाद का यह सिद्धान्त इसी व्यावहारिक जीवनदृष्टि को समुपस्थित करता है।

अनेकान्त को जीने की आवश्यकता

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि अनेकान्त के व्यावहारिक–पक्ष पर श्री नवीन भाई शाह की हार्दिक इच्छा, प्रेरणा और अर्थ–सहयोग से

मेरे निर्देशन में लगभग छः वर्ष पूर्व अहमदाबाद में जो संगोष्ठी हुई थी, उसमें प्रस्तुत कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध अब प्रकाशित हो रहे हैं। अनेकांतवाद के सैद्धान्तिक–पक्ष पर तो प्राचीन–काल से लेकर अब तक बहुत विचार–विमर्श या आलोचन–प्रत्यालोचन हुआ, किन्तु उसका व्यावहारिक–पक्ष उपेक्षित ही रहा। यह श्री नवीन भाई की उत्कट प्रेरणा का ही परिणाम था कि अनेकान्त के इस उपेक्षित पक्ष पर न केवल संगोष्ठी और निबन्ध–प्रतियोगिता का आयोजन हुआ, अपितु इस हेतु प्राप्त निबन्धों या निबन्धों के चयनित अंश का प्रकाशन भी हो रहा है। अनेकांतवाद मात्र सैद्धान्तिक–चर्चा का विषय नहीं है, वह प्रयोग में लाने का विषय है, क्योंकि इस प्रयोगात्मकता के द्वारा ही हम वैयक्तिक और सामाजिक–जीवन के संघर्षों एवं वैचारिक–विवादों का निराकरण कर सकते हैं। अनेकांतवाद को मात्र जान लेना या समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसे व्यावहारिक–जीवन में जीना भी होगा और तभी उसकी वास्तविक मूल्यवत्ता को समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक–जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक–दृष्टि प्रस्तुत करते हैं, जिससे मानव–जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।

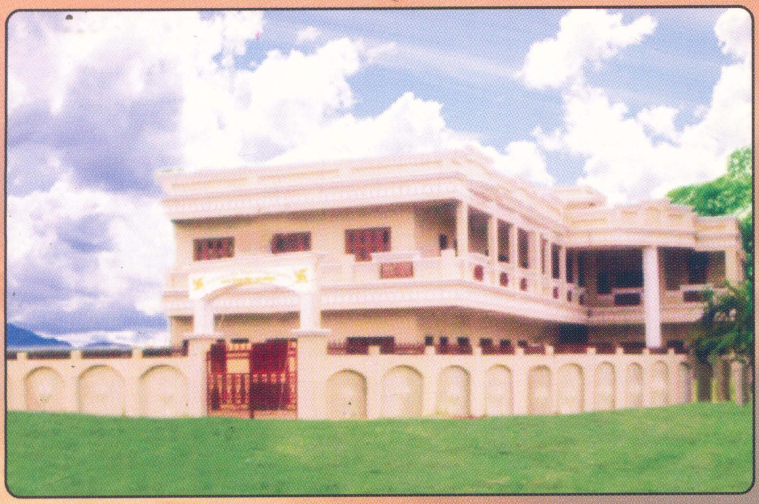

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 से संचालित प्राच्य विद्या पीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई मार्ग पर स्थित इस संस्थान का मुख्य उदेश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है।

इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दु धर्म आदि के लगभग 12,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी है। यहाँ 40 पत्र पत्रिकाएँ भी नियमित आती है

इस परिसर में साधु–साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन–अध्यापन के साथ–साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

शोधकार्य के मार्गदर्शन एवं शिक्षण हेतु डॉ. सागरमलजी जैन का सतत् सानिध्य प्राप्त है।

इसे विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा शोध संस्थान के रुप में मान्यता प्रदान की गई है।

डॉ. सागरमल जैन

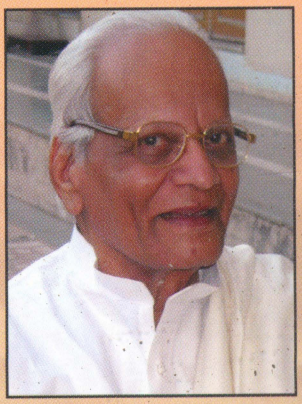

जन्म	:	दि. 22.02.1932
जन्म स्थान	:	शाजापुर (म.प्र.)
शिक्षा	:	साहित्यरत्न : 1954
		एम.ए. (दर्शन शास्त्र) : 1963
		पी–एच.डी. : 1969

अकादमिक उपलब्धियाँ :

प्रवक्ता (दर्शनशास्त्र) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1964–67
सहायक प्राध्यापक म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1968–85
प्राध्यापक (प्रोफेसर) म.प्र. शास. शिक्षा सेवा	: 1985–89
निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	: 1979–1987 एवं 1989–1997
लेखन	: 49 पुस्तकें
सम्पादन	: 160 पुस्तकें
प्रधान सम्पादक	: जैन विद्या विश्वकोष (पार्श्वनाथ विद्यापीठ की महत्वाकांक्षी परियोजना)

पुरस्कार :

प्रदीपकुमार रामपुरिया पुरस्कार	: 1986, एवं 1998
स्वामी प्रणवानन्द पुरस्कार	: 1987
डिप्टीमल पुरस्कार	: 1992
आचार्य हस्तीमल स्मृति सम्मान	: 1994
विद्यावारधि सम्मान	: 2003
प्रेसीडेन्सीयल अवार्ड ऑफ जैना यू.एस.ए	: 2007
वागार्थ सम्मान (म.प्र. शासन)	: 2007
गौतम गणधर सम्मान (प्राकृत भारती)	: 2008
आर्चाय तुलसी प्राकृत सम्मान	: 2009
विद्याचन्द्रसूरी सम्मान	: 2011
समता मनीषी सम्मान	: 2012
सदस्य : अकादमिक संस्थाएँ	: पूर्व सदस्य – विद्वत परिषद, भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल
	सदस्य – जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
	: पूर्व सदस्य – मानद निदेशक, आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर।
सम्प्रति	: संस्थापक – प्रबंध न्यासी एवं निदेशक प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र)
	पूर्वसचिवःपार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
विदेश भ्रमण	: यू.एस.ए. , शिकागों, राले, ह्यूटन, न्यूजर्सी, उत्तरीकरोलीना, वाशिंगटन, सेनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स, फिनीक्स, सेंट लूईस, पिट्सबर्ग, टोरण्टों, (कनाड़ा) न्यूयार्क, लन्दन (यू.के.) और काटमाडूं (नेपाल)

Printed at Akrati Offset, UJJAIN Ph. 0734-2561720